भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या ६.

भारतीय जागृति

[१८०१ - १९४८]

लेखक

भारतीय शासन, अपराध चिकित्सा, नागरिक शिक्षा,
और, हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, आदि
के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, इलाहाबाद

मुद्रक

गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम., नारायण प्रेस, प्रयाग

वाँ संस्करण] सन् १९४९ ई० [मूल्य, ढाई रुपए

लेखक के गाँव भाबैल (पानीपत) के निवासी

शिक्षा-प्रेमी और समाज-सुधारक

स्व० रायबहादुर लाला मक्खनलाल जी मित्तल

सी० ई०, एम० आई० ई०

की पुण्य स्मृति में

निवेदन

स्व० राजा राममोहन राय के समय से हमारा देश मध्ययुगीन भारत के स्थान पर आधुनिक भारत बन रहा है। समय-समय पर विविध महानुभावों तथा संस्थाओं ने हमारी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक और राजनैतिक जाग्रति में योग दिया है। अगस्त १९४७ से हमने स्वाधीनता प्राप्त कर ली है, यद्यपि वह खंडित भारत की है। इसका प्रभाव हमारे शिक्षा, साहित्य, कृषि, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों पर पड़ रहा है, और अब हमारी सभी प्रकार की जाग्रति का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

वह समय बड़ी तेजी से आ रहा है, जब भारतवर्ष उन्नत होकर दीन-दुखी मानव जनता को शुभ सन्देश देगा और विश्व-परिवार में अपना योग्य स्थान प्राप्त करेगा। जरूरत है कि हम जाग्रति के रूप को अच्छी तरह समझें और जिस क्षेत्र में हमारी रुचि और योग्यता हो, उसमें भरसक अपना फर्ज पूरा करें।

भारतीय जाग्रति का विषय इतना महान और उसका मौजूदा स्वरूप हमारे सामने इतना नज़दीक है कि उस पर दो-ढाई सौ सफे की छोटी सी पुस्तक में अच्छी तरह विचार करना बहुत ही कठिन है। फिर भी जहाँ तक बन आया, उसका परिचय देने की कोशिश की गई है।

इस पुस्तक का पहला संस्करण १९२० में, दूसरा १९३५ में, तीसरा १९३९ में, और चौथा १९४५ में, हुआ था। अब यह पाँचवाँ संस्करण है। जिन महानुभावों और संस्थाओं ने इस पुस्तक का प्रचार करके हमें इसका नया-नया संस्करण तैयार करने का सुअवसर दिया है, उन सब का हम बड़ा अहसान मानते हैं।

विनीत

भगवानदास केला

विषय सूची

[१] जागृति क्यों और कैसे ?

[२] धार्मिक जागृति

[३] सामाजिक जागृति

[४] आर्थिक जागृति; (१) खेती

[५] आर्थिक जागृति; (२) उद्योग धन्धे

[६] आर्थिक जागृति; (३) व्यापार

[७] मानसिक जागृति; (१) शिक्षा

(११) राजनैतिक जाग्रति

(१२) उपसंहार

पहला अध्याय

जागृति-कब और क्यों ?

जिस दिन होगा जागृति दान—
प्रभुवर ! उस दिन फिर भारत का होगा गौरव गान ।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥१॥
धार्मिक, सामाजिक विषयों पर जमा रहेगा ध्यान ।
शिक्षा फैल जायगी, होगा शुचि साहित्यिक ज्ञान ।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥२॥
सचमुच औद्योगिक धंधों मे होगी वृद्धि महान् ।
कोटि-कोटि भारत संतति का होगा पुनरुत्थान ।
जिस दिन होगा जागृति दान ॥३॥

—कर्ण कवि

जागृति एक कुदरती घटना है—रात के बाद दिन होता है । पेड़ और पौधे सोते और जागते हैं । पशु पक्षियों और आदमियो की नींद और जागृति होती है, तो सोते हुए देशों के जागने की आशा करना अनुचित नहीं । बीमारियों का इलाज होता है, रोगियों को मरे हुओं में गिनती करना भूल है, तो पिछड़े हुए या कमज़ोर और दुखी राष्ट्रों की मृत्यु का हिसाब लगाना बुद्धिमानी की बात नहीं है । हाँ, राष्ट्रों की बीमारी और नींद मनुष्यों की कई कई पीढ़ियां तक रह सकती है, और उनके उत्थान तथा जागृति की आशा और कल्पना करने के लिए निस्संदेह विशेष उदार बुद्धि की आवश्यकता है ।

जागृति का अभिप्राय—'जागृति' हमारे प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा का शब्द है । तथापि इस पुस्तक में इस विषय का विवेचन होने

से इस शब्द के अर्थ पर कुछ विशेष विचार किया जाना आवश्यक है। जागृति मनुष्य की वह दशा है, जिसमें उसे अपनी अवस्था और परिस्थिति का ज्ञान होता है, वह दोषों और विकारों को दूर करके अपना सुधार या उन्नति करने के प्रयत्न करता है, चाहे ये प्रयत्न कितने ही मन्द गति के हों, अथवा कुछ दशाओं में वे असफल भी क्यों न हों। इसीप्रकार वह देश जागृत कहा जा सकता है जिसको जनता सामूहिक और संगठित रूप में अपनी धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक आदि स्थिति का विचार करती है, और विविध बाधाओं का निवारण करके, सब विषयों में यथेष्ट सुधार करती हुई संसार में अपना उचित स्थान पाने का प्रयत्न करती है। इसके विपरीत, लोगों का असंगठित रहना, अपने आप को बहुत उन्नत या ऊँचा मानकर अभिमान करना, निष्क्रिय बने रहना, आस पास के देशों से कुछ सम्बन्ध ही न रखना जागृति के अभाव के लक्षण हैं। जागृत देशों में नाना प्रकार के आविष्कार, सुधार, संशोधन, और नये विचारों का आगमन होता रहता है; उन देशों के आदमी मिथ्या संतोष तथा अहङ्कार का तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार जनता का होशियारी से परिवर्तन, सुधार और उन्नति करना ही उसकी जागृति है।

विविध दृष्टिकोण—जागृति की अवस्था को भिन्न-भिन्न आदमी जुदा-जुदा दृष्टि से देखते हैं। प्रायः विवेकशील लेखकों, और दूरदर्शी महानुभावों के लिए, तथा मनुष्य मात्र से प्रेम करनेवाले निस्स्वार्थी सज्जनों के लिए किसी देश की जागृति का दृश्य आनन्ददायी होता है। परन्तु उन लोगों के लिए, जिनके स्वार्थों में बाधा आने की सम्भावना है, जिन्हें पुरानी आदतें छोड़कर नया ढङ्ग अपनाना नहीं रुचता, जागृति की प्रारम्भिक स्थिति बहुधा कष्ट देनेवाली होती है। बहुत से आदमियों को बात-बात में आशंका होती है। सामाजिक, धार्मिक, तथा राजनैतिक आदि हर प्रकार के काम में गड़बड़ी, असन्तोष और कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें देखकर साधारण आदमी प्रसन्न नहीं हो सकता। तथापि जागृति की यह स्थिति, देश की भावी कल्याणकारी दशा के लिए,

वैसी ही आवश्यक तथा अनिवार्य है, जैसी सुहावनी बसन्त ऋतु के लिए पतझड़ की मौसम होती है। इसलिए हर देश के निवासियों को अपनी आपत्तियों से न घबराकर जागृति का हार्दिक स्वागत करना चाहिए।

जागृति का क्षेत्र—जागृति के प्रभाव और क्षेत्र का अनुमान साधारण संकुचित विचार वालों को नहीं हो सकता। बहुधा एक प्रकार की लहर बहुत छोटे से रूप में पैदा होकर धीरे धीरे विराट रूप धारण कर लेती है। धार्मिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन का सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक आन्दोलन में परिणत होना राष्ट्रों के इतिहास की साधारण घटना है। निस्सन्देह एक शक्ति उत्पन्न होने की देर है; फिर, उसका रूप बदलना बड़ी बात नहीं है। इसी प्रकार एक देश की जागृति बहुधा विस्तार पाकर न केवल आसपास के देशों में ही अपना प्रभाव डालती है, वरन् अनुकूल अवस्था होने पर सात समुद्र पार तक अपना जौहर दिखा सकती है।

अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में योरपीय महाद्वीप के फ्राँस देश में जो स्वाधीनता और भ्रातृभाव का उदय हुआ, उस पर संयुक्त-राज्य-अमरीका की स्वाधीनता का बहुत प्रभाव पड़ा था। बीसवीं सदी में प्रथम योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) और पीछे रूस जारशाही के अन्त, सोवियट शासन की स्थापना, और समाजवाद आन्दोलन ने संसार के कौनसे देश में हलचल पैदा नहीं की! और, दूसरे महायुद्ध (१९३९-४५) का असर किस देश पर नहीं पड़ा!

जागृति का प्रारम्भ—किसी देश में जागृति होने के लिए जनता के कष्टों या संकटों का होना जरूरी है, परन्तु वही काफी नहीं है; साथ में उनको महसूस करनेवाली चेतन शक्ति की भी आवश्यकता है। इस का अभिप्राय यह है कि जागृति आरम्भ होने के लिए वह अवस्था कदापि अनुकूल नहीं, जब कि लोगों को कष्ट या अत्याचार सहन करने की ऐसी आदत हो कि वे उन को अत्याचार ही न समझें; वे उन्हें साधारण बात मानकर चुपचाप बैठे रहें।

जब किसी देश के मनुष्य वहाँ होनेवाले अत्याचारों या क्लेशों को मिलकर अनुभव करने लगते हैं तो वे उनके दूर करने के उपाय भी निकालने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रयत्न आरम्भ में बहुधा शान्तिमय होते हैं। यदि इनसे सफलता मिलजाती है तो मामला जल्दी निपट जाता है। परन्तु यदि अधिकारी वर्ग अपने स्वार्थ या अज्ञान के कारण, अत्याचारों को वास्तव में दूर न करके उलटा आन्दोलन को दबाते हैं, और जनता अपने कष्टों का अनुभव करने की शक्ति बनाए रखती है तो उसके असन्तोष की मात्रा बढ़ती जाती है; आदमी उग्र उपाय काम में लाने लगते हैं, संग्राम अधिकाधिक विकट रूप धारण करता है।

जागृति रोकने के ढङ्ग; साम दाम—जागृति को रोकने के लिए अधिकारी या सत्ताधारी समय-समय पर जुदा-जुदा ढँग काम में लाया करते हैं। आन्दोलन करनेवाले नेताओं को यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि उनकी कार्यपद्धति अनुचित है। उनसे देश-हित के नाम पर अपील की जाती है कि वे अपने आन्दोलन को शान्त करदें। कभी-कभी उन्हें अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पदों का अथवा धन या जागीर आदि का प्रलोभन दिया जाता है। साधारण मनुष्यों के लिए ये उपाय काफी हैं, परन्तु दृढ़, गंभीर और समझदार नेता अपने तय किए हुए काम को जारी रखते हैं, [वे इनसे चलायमान नहीं होते।

दण्ड—आन्दोलन करनेवालों की परीक्षा विविध प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट देकर भी की जाती है। प्राचीन काल में धर्माधिकारियों का बोलबाला था; उनका मुख्य दण्ड जाति-बाहर करना हुआ करता था, जिससे अभियुक्त अपने मित्रों के ही नहीं, अपने सगे सम्बन्धियों के भी प्रेम से वञ्चित रहें और नाना प्रकार की असुविधाएं झेलें। आजकल राज्याधिकारी क़ैद, कोड़े लगवाने, लाठी-वर्षा करने, जन्मभूमि से दूर कालेपानी भेजने, नज़रबन्द करने, आदि की सज़ाएँ देते हैं। देशभक्तों के लिए जननी-जन्मभूमि की सेवा से

वंचित रहना, जीते-जी मृत्यु की वेदना अनुभव करना है। तो भी, वे जहाँ तक हो सकता है, अपना कर्तव्य पालन करने से नहीं हटते।

भेद—आन्दोलनों को दमन करने के लिए एक और उपाय भी काम में लाया जाता है। नेताओं में फूट डालने की कोशिश की जाती है। यदि यह सफल हो जावे, उनमें अलग-अलग दलबन्दी हो जावे तो लोगों के सामने बड़ी विकट समस्या पैदा हो जाती है। वे सहज ही यह नहीं जान सकते कि कौनसा नेता उन्हें आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति कराने में अन्त समय तक मदद देता रहेगा, और कौनसा बीच मझ-धार में उनका साथ छोड़ देगा; अथवा, कौनसा कार्यकर्ता अपने शुद्ध अन्तःकरण से काम कर रहा है, और कौनसा, अधिकारी-वर्ग के माया-जाल में फंसा हुआ है।

आतंककारी आन्दोलन—जागृति के आन्दोलनों में ज्यों-ज्यों अधिक समय लगता है, त्यों-त्यों उसका स्वरूप अधिकाधिक उग्र होता जाता है। साधारण अधिकारी अपने वपौती समझे हुए अधिकारों और स्वार्थों का सहसा त्याग करना नहीं चाहते (चाहे वे यह जान भी लें कि वे अधिकार या स्वार्थ असल में न्याय-विरुद्ध हैं), जब तक कि वे उनको छोड़ने के लिए मजबूर या लाचार न कर दिए जावें। वे अपने मान, या इज्जत को बनाए रखने के लिए जी-तोड़ कोशिश करते हैं। परन्तु धीरे-धीरे जनसाधारण भी अपने जानमाल की माया-ममता छोड़ कर अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए विविध कार्य करने लगते हैं, और इसके फल-स्वरूप आनेवाली सब मुसीबतों का हंसते-खेलते स्वागत करते हैं।

कुछ दशाओं में जब लोगों को खुले-आम आन्दोलन नहीं करने दिया जाता, और कार्यकर्ताओं का घोर दमन किया जाता है तो आन्दोलन गुप्त, हिन्सक और आतंककारी रूप धारण कर लेता है। यह तो स्पष्ट ही है कि आतंकवादी कार्यकर्ता में उत्कट देशभक्ति की भावना होती है, वह अपनी जान हथेली पर लिए फिरता है और बड़े-बड़े साहस के काम

कर डालता है। उसके उदाहरण को देख-सुनकर दूसरे आदमियों में भी कुछ कर-गुजरने की भावना पैदा होती है, खासकर जिनमें जवानी का जोश होता है और जो आगे-पीछे का विचार कम करते हैं। इस प्रकार देश-प्रेमी और साहसी लोगों की संख्या बढ़ती है। कुछ आदमी धन से भी सहायता करते हैं। लोगों में त्याग और बलिदान की भावना बढ़ती है।

परन्तु इसकी सीमा बहुत परिमित ही रहती है। आतंककारियों के काम गुपचुप होते हैं। वे अपनी योजनाएँ सर्वसाधारण में प्रकट नहीं करते—प्रकट करने में यह भय रहता है कि कहीं भेद न खुल जाय। इस प्रकार उनसे सम्पर्क में आनेवाले, उनसे प्रत्यक्ष सहानुभूति रखने-वाले कम ही रहते हैं। फिर, क्योंकि उनके काम अधिकतर किसी अधि-कारी की हत्या करने या कहीं डाका डालने आदि के होते हैं, उन्हें जनता का नैतिक समर्थन नहीं मिलता। उनका संगठन यथेष्ट व्यापक नहीं होता। बड़े देश में यह बात उनकी सफलता में बहुत बाधक होती है। प्रायः एक प्रान्त के आतंककारियों को दूसरे प्रान्तवालों से मिलने-जुलने और विचार-विनिमय करने का प्रसंग नहीं आता; इससे कोई व्यापक योजना एक-साथ सब जगह अमल में नहीं आती। अगर एक जगह दो-चार अधिकारियों को मार भी डाला गया तो इससे शासन-यंत्र बदला जाना आवश्यक नहीं है; सम्भव है अधिकारियों की ओर से और भी अधिक कड़ाई बर्ती जाने लगे, पुलिस और फौज तथा खुफिया पुलिस आदि की शक्ति बढ़ा दी जाय, और सर्वसाधारण जनता की कठि-नाइयाँ पहले से भी अधिक हो जायँ। हाँ, ऐसा होने पर जनता को शासकों के अत्याचारों का और अधिक परिचय मिल सकता है। निदान, आतंककारी आन्दोलन से जन-जागृति को गौण रूप से, या क्षणिक प्रोत्साहन भले ही मिले, उससे वास्तविक जन-जागृति नहीं होती।*

---

*लेखक की 'देशी राज्यों की जन-जागृति' से।

जनता की विजय—जागृति में यथेष्ट विजय करने के लिए धैर्यपूर्वक कार्य होते रहना चाहिए। कभी-कभी इतिहास में ऐसा भी देखा गया है कि एक देश के निवासियों के दुःखों से दूसरे देश के उदार सज्जन सहानुभूति करने लगते हैं, निःस्वार्थ भाव से तरह-तरह की सहायता देते हैं। परन्तु जिस प्रकार कोई राष्ट्र अधिकांश अपने ही प्रयत्नों से बनता (खड़ा होता) है, उसी प्रकार, वह प्रायः अपने ही उद्योग से जागृत होता है। विदेशी सहायता कुछ अंश में सहायक हो सकती है, परन्तु प्रत्येक देश के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी ही संतान के तन, मन, धन के भरोसे रहे।

प्रजा के सच्चे और अच्छे आन्दोलन में भी यह ज़रूरी नहीं है कि प्रथम प्रयत्न में ही मनोरथ सिद्ध हो जावे। बहुधा आन्दोलन कुछ समय के लिए दब जाते हैं, और सफलता-प्राप्ति के लिए बारबार कोशिश करने की नीति काम में लानी होती है। समझदार कर्मवीर यह आशा और विश्वास रख कर काम करते हैं कि अन्त में सत्य की विजय निश्चित् और अनिवार्य है। वे बीच में, समय-समय पर आनेवाली बाधाओं से बिलकुल नहीं घबराते, अपना धीरज बनाए रखते हैं, और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

विजय का साधन; सत्याग्रह—विजय पाने के लिए हिंसक अहिंसक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग होता आया है। हाँ, सर्वसाधारण की दृष्टि युद्ध के स्थूल साधनों पर, हिंसक अस्त्रों और कार्यों पर अधिक रहती है; नैतिक गुणों और अहिंसक उपायों की महत्ता की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जाता है। भारतवर्ष में, धार्मिक या सामाजिक क्षेत्र में, व्यक्तियों द्वारा अहिंसा वृत्ति का उपयोग चिरकाल से होता आया है। भक्त प्रहलाद की अपने क्रूर अत्याचारी पिता हिरण्यकश्यप पर, और महर्षि वशिष्ट की अभिमानी विश्वमित्र पर, सत्याग्रह से विजय पाने की बात सब जानते हैं। ऐसे उदाहरण भारतवर्ष के अलावा अन्य देशों के इतिहास में भी मिलते हैं। पर अब से कुछ वर्ष पहले तक सत्याग्रह

आदि अहिन्सक उपायों का सामूहिक रूप से विशेष उपयोग नहीं किया गया था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता पाने के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन उपहास या मज़ाक समझा जाता था। नए-नए घातक हथियारों वाली शासन-शक्ति के सामने प्रजा असहाय मालूम होती थी। उसे अपने उद्धार का कोई रास्ता ही नहीं मिलता था। जनता को ऐसे अस्त्र की बात सुझाने का श्रेय, जो बहुत प्रभावशाली होने के साथ अहिंसक भी हो, महर्षि टाल्सटाय और महात्मा गाँधी आदि को है। मानव समाज इस प्रयोग को उत्सुकता भरी निगाह से देख रहा है।

मनुष्य जाति की काफी उन्नति न होने के कारण, अभी तक प्रायः पाशविक बल की तूती बोलती रही है, तो भी जान पड़ता है कि अब यह युग सत्याग्रह के निर्दोष अहिंसात्मक अस्त्र से जनता को सुसज्जित करके, उसे एक नई और अचूक शक्ति प्रदान करेगा। इसके प्रयोग से जनता अपनी विशाल शक्ति का परिचय पाएगी, और, यह युग जन-सत्ता का युग कहलाएगा। निस्सन्देह हमें इस बात की बड़ी उत्कण्ठा है कि राष्ट्रों को, सुधारों के लिए, रक्तपात की ज़रूरत न रहे। मनुष्य अपने आत्म-बल से काम लेकर दूसरे जीवधारियों से अपनी विशेषता का प्रमाण दे, और पशु-बल का प्रयोग अपने से नीचे दर्जे के जीवों अर्थात पशुओं तथा असभ्य पुरुषों के लिए छोड़ दे।

ऊपर हमने जागृति सम्बन्धी कुछ व्यापक और सिद्धांत की बातों का विचार किया है। इस युग में देश-देश में जागृति और परिवर्तन हो रहा है। इन सब का अध्ययन और मनन बहुत मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है; परन्तु हमें यहाँ केवल भारतवर्ष का ही विचार करना है।

भारतवर्ष में परिवर्तन—दूसरे देशों की तरह यहाँ इस समय महान परिवर्तन हो रहे हैं। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक और शिक्षा सम्बन्धी आदि सभी विषयों में उथल-पुथल और क्रान्ति की भावना काम कर रही है। प्राचीन रूढ़ियों को तर्क और उपयोगिता की कसौटी पर कसा जा रहा है। महिलाओं के शारीरिक और मानसिक

स्वास्थ्य का नाश करनेवाले पर्दे को हटाया जा रहा है। विवाह सम्बन्धी आदर्श और रीति-रस्मा में परिवर्तन हो रहे हैं। बालक और युवा अब बड़े-बूढ़ों की बात 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के भाव से ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं। किसान और मज़दूर अपने कष्टों के लिए, केवल भाग्य को दोषी समझ कर नहीं रह सकते। ग्रामीण जनता अपने कष्टों के विषय में सोचती है, कारण और कार्य पर विचार करती है, और अन्य देशों से अपनी तुलना करती है। शूद्र या नीच समझे जानेवालों को भी अब नई रोशनी मिल रही है। उन्होंने आत्मोद्धार का बीड़ा उठा लिया है, और उसके लिए वे नाना प्रकार के कष्ट और त्याग सहन करने को तैयार हैं। बच्चों का पालन-पोषण करने तथा उन्हें शिक्षा देने की नई-नई विधियों पर विचार हो रहा है। प्रत्येक लड़का या लड़की किस प्रकार राज्य का उत्तम नागरिक बनकर अपना अधिक-तम विकास कर सकता है, और देश के लिए अधिक से अधिक उप-योगी हो सकता है, इस विषय को सोचने-विचारने में अच्छे-अच्छे दिमाग लगे हुए हैं। इसी तरह प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को नई निगाह से देखा जा रहा है, जनता केवल उनकी प्राचीनता के कारण ही उन पर अन्ध-विश्वास करने को तैयार नहीं। साहित्य की नवीन रचनाओं में निराला ही जीवन नजर आरहा है। नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का नए सिरे से विचार हो रहा है। कहाँ तक गिनावें; संस्कार, सुधार और परिवर्तन आदि की विविध क्रियाएँ प्राचीन भारत को नवीन भारत बनाने में विलक्षण रूप से कटिबद्ध हैं!

इस परिस्थिति को हम 'जागृति' कहते हैं। हमारी यह धारणा है कि प्राचीन समय में चिरकाल तक भारतवर्ष यथेष्ट उन्नत तथा गौरव-मय रह चुका है, बीच में वह कमजोर और पराधीन हो चला था; अब फिर वह चेतन हो रहा है, वह निद्रा छोड़ रहा है, और पूरी आशा है कि थोड़े समय में वह समृद्ध तथा शक्तिशाली बनकर संसार में अपने महान् कर्तव्य का पालन करेगा, और विश्व की अधिकांश दीन-दुखी

जनता का ही नहीं, प्राणी-मात्र का कल्याण करने में समर्थ होगा।

क्या यह वास्तव में जागृति है? यह पूछा जा सकता है कि क्या वर्तमान काल में, यहाँ होनेवाले विविध प्रयत्न ठीक दिशा में ही हो रहे हैं? क्या पुराने विचारों वाले अनेक आदमी आधुनिक सामाजिक सुधारों से असन्तुष्ट और अप्रसन्न नहीं हैं? क्या आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनता अठारहवीं शताब्दी की अपेक्षा अधिक सुखी है? क्या वर्त्तमान शासनपद्धति को कितने ही भारतवासी बहुत आशंका की दृष्टि से नहीं देख रहे हैं? ऐसे सवाल करनेवालों के भावों को ध्यान में रखते हुए भी, विचार करने से यह साफ मालूम हो जायगा कि भारतवर्ष इस समय सचेत होकर अपनी स्थिति को सुधारने के प्रयत्न में लगा है। वह अन्य देशों से अपनी तुलना करता है, अपने अभावों को दूर कर रहा है; और, चाहे कुछ दशाओं में स्थिति कभी-कभी चिन्ताजनक भी होती है, यह महान देश अब सुधार और उन्नति के लिए दृढ़ निश्चय या संकल्प किए हुए है, और इसे सफलता की पूरी आशा है। इसलिए वर्तमान अवस्था को 'जागृति' कहना उचित ही है।

आधुनिक जागृति से पहले की हालत – आधुनिक जागृति से पहले की हालत के बारे में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हज़रत ईसा की अठारहवीं सदी ने भारतवर्ष को रोग-शय्या पर पड़ा छोड़ा। मुसलमानों की शासन-शक्ति खण्ड-खण्ड हो गई थी। फ्रांसीसी और अंग्रेज़ जैसी बलवान, चतुर और साहसी जातियों के आक्रमणों के मुक़ाबले में, हिन्दू अपने साम्प्रदायिक या प्रान्तीय भेद-भावों और अज्ञान आदि के कारण, राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की रक्षा करने में असमर्थ साबित हो रहे थे। यहाँ का धर्म बड़ी चिन्ता पैदा करनेवाली हालत में था, समाज शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से दुर्बल था, उसे अपने भले-बुरे का ज्ञान बहुत कम रह गया था, और जो थोड़ा सा ज्ञान था, उससे भी यथेष्ट लाभ नहीं उठाया जा रहा था; जीने या मरने का विकट प्रश्न सामने था। छोटे-मोटे अनेक चिकित्सक असफल हो

चुके थे। विविध प्रान्तीय आन्दोलन देश को चेतन और निरोग न कर सके थे। साधारण आदमियों को बड़ी बेकली हो चली थी, कितने ही कमसमझ लोग निराश हो गए थे, और दूसरों का बुरा सोचनेवाले मन ही मन फूले नहीं समाते थे।

जागृति की सूचना — उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में बहुत थोड़े दूरदर्शी भारतीयों को स्वदेश के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रह गया था। धर्म का उच्च ध्येय और कर्तव्यमय सामाजिक जीवन की श्रेष्ठता भुला दी गई थी। स्वार्थ, अत्याचार और पाखंड का निरंकुश शासन चल रहा था। भारत माता के अंग-अंग से 'त्राहिमाम्, त्राहिमाम्' (मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो) की आवाज़ निकल रही थी, और सम्भव था कि भारतीय राष्ट्र का विशाल भवन खंड-खंड हो जाता, और भारतीय सभ्यता के आदर्श मिट जाते। ठीक ऐसे समय में भगवान कृष्ण के इस कथन की सत्यता का प्रमाण मिला कि जब आदमी धर्म से गिर जाते हैं तो उन्हें रास्ता बताने के लिए महान् आत्माओं का शुभागमन होता है। यहाँ हिन्दुओं में सर्वश्री राजा रायमोहन राय और दयानन्द तथा मुसलमानों में सर सैयद अहमद आदि ने अपना कार्य आरम्भ करके भावी जागृति की सूचना दी; उसका व्योरा अगले अध्यायों में क्रमशः दिया जायगा। पहले इस बात का विचार कर लिया जाय कि यहाँ मुख्यतया किन-किन बातों से जागृति की प्रेरणा हुई या उसमें सहायता मिली।

जागृति के कारण; (१) विश्व-परिस्थिति — उन्नीसवीं सदी से यातायात के साधनों की उन्नति होने से संसार के विविध देश एक-दूसरे के निकट आते रहे हैं। संसार एक होता जा रहा है। उसके एक भाग में होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं का प्रभाव दूर-दूर के देशों पर पड़े बिना नहीं रहता। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया यह प्रभाव अधिकाधिक दृष्टिगोचर हुआ है। बीसवीं सदी में, खासकर प्रथम महायुद्ध ने संसार के सभी देशों में उथल-पुथल मचाई। इंगलैंड उसका प्रमुख भागीदार था, और भारतवर्ष उसके साथ बंधा

था। इस प्रकार इस महायुद्ध के समय से भारत का अन्य देशों से सम्बन्ध बढ़ता गया। दूसरे महायुद्ध ने तो भारत को संसार के विविध भागों के और भी नज़दीक लादिया। पहले सामन्तवाद का विरोध, और पीछे पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध और जनतंत्र की स्थापना आदि--जो-जो विचार-धाराएँ समय-समय पर उठती रहीं, उनका भारतवर्ष पर भी प्रभाव पड़ता गया।

(२) पाश्चात्य देशों का प्रभाव – विचार-धाराओं का आदान-प्रदान थोड़ा-बहुत सभी देशों से हुआ है, तथापि पाश्चात्य देशों के सम्पर्क का भारतीय जागृति में विशेष स्थान है। यों तो योरप वाले यहाँ बहुत पहले से आने लग गए थे, इनका भारतीय जीवन पर कुछ विशेष प्रभाव अठारहवीं सदी के प्रारम्भ से पड़ने लगा और फिर उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। दुर्बल, और रोगी भारत उनकी चमकीली सभ्यता, नए रहनसहन और अनोखे रंग-ढंग को देख कर चकित रह गया। यहाँ वालों के पुराने तथा संकुचित विचारों को नए, सजीव और प्रगतिशील विचारों का सामना करना पड़ा।

इसके साथ हमारे दोष देखनेवाले समालोचकों तथा ईसाई पादरियों ने उस समय की हालत से लाभ उठा, हमारे अवगुणों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया, और हमें विश्वास दिलाना आरम्भ कर दिया कि हमारे पूर्वज या पुरखे जङ्गली थे, और हम भी जङ्गली हैं, भारतवर्ष कभी सभ्य नहीं रहा है, और अब भी असभ्य है। इन लोगों के ऐसा कहने का उद्देश्य यह रहा होगा कि भारतवासियों पर बारबार अपनी निन्दा सुनने से ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़े कि ये अपना सम्मान और आत्म-विश्वास खो बैठें, और उनमें ऐसा मानसिक विकार पैदा हो जावे कि वे हुकूमत करनेवाली और दूसरी गोरी जातियों से बराबरी का दावा करने का कभी विचार ही न करें। अथवा, उनका यह उद्देश्य रहा होगा कि उनके देशों के लोग जानलें कि भारतवर्ष में अंगरेज शासकों तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, वे उनकी

नीति का विशेष विरोध न करें, और उन्हें भरपूर सहायता करते रहें। जो हो, भारतवासियों पर उनका जादू चल गया; और, इन्होंने अन्धा-धुन्ध पश्चिमी बातों की नकल करने पर कमर कस ली।

कुछ समय बाद इन बातों में परिवर्तन होने लगा। योरपीय भाषाओं में, संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद होने से, योरपीय संसार भारतवर्ष के ऊँचे विचार, ज्ञान तथा सभ्यता से परिचित होकर उसका आदर करने लगा। इससे भारतवासी भी अपने प्राचीन गौरव को याद करने लगे। उन्हें यह मालूम होने लगा कि विदेशी रीति-नीति आदर्श नहीं, और योरपियन लोग देवता नहीं हैं तथा हम लोग भी निरे पशु नहीं हैं। हमारे उनके बहुत-कुछ गुण-दोष समान ही हैं; जो अन्तर है, उसका भलीभांति विचार करना चाहिए; यदि उनमें गुण हैं तो उनसे शिक्षा लेने में हानि नहीं। इस प्रकार विदेशी भावों की परख की जाने लगी, और स्वदेशी भावों का संचार हुआ।

३ शिक्षा और विज्ञान यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यहाँ शिक्षा का प्रचार करने में कोई रुचि न थी, उसे अपना व्यापार बढ़ाने के लिए कुछ कलर्कों की आवश्यकता होने पर उसने कुछ शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं और कुछ की मदद की। इससे भी पहले ईसाई पादरियों ने देश में ईसाई धर्म फैलाने के लिए शिक्षा-प्रचार में कुछ योग दिया था। इन संस्थाओं में जो कोई शिक्षा लेने को आया, सब का स्वागत किया। इससे देश में नीची समझे जानेवाली जातियों के लोगों में शिक्षा का प्रवेश होने से, उनके विचारों में उथल-पुथल तथा जागृति का भाव आना सहज हो गया। इसी प्रकार धर्म-ग्रन्थों के संस्कृत से जनता की भाषाओं में अनुवाद होजाने से जन साधारण को उनका ज्ञान दुर्लभ न रहा; सब रहस्य प्रकाशित होने लगा। ग्रन्थों का प्रचार सुलभ करने का श्रेय छापेखाने को है। यह भी आधुनिक काल की देन है। पाश्चात्य देशों ने (भौतिक) विज्ञान में जो उन्नति की थी, उसका भी यहाँ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इन बातों का विचार आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

अस्तु, देश में शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों का क्रमशः प्रचार बढ़ने से जनता को विविध प्रकार की विचार-सामग्री मिली, और जागृति का मार्ग सुगम हुआ।

४ **अन्य देशों की जागृति** — मनुष्य की भांति, देशों पर भी एक दूसरे का प्रभाव पड़ता है। जब जापान ने सामन्तशाही को छोड़कर तथा वैध राजतंत्र स्थापित करके खूब उन्नति कर दिखाई, तुच्छ गिनी जानेवाली एशिया का एक छोटा सा देश संसार का प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बन गया, और उसने पश्चिम के विशाल रूस देश को युद्ध में हरा दिया तो इससे कुछ अंश में एशिया भर का मस्तक ऊँचा हो गया और भारतवर्ष भी अपनी शक्ति का विचार करने लगा।

गत वर्षों में अरब, मिश्र, टर्की, फ़ारिस, अफ़गानिस्तान आदि मुस्लिम देशों में अच्छी प्रगति हुई। खासकर क्रान्तिकारी नेता ग़ाज़ी मुस्तफा कमालपाशा ने टर्की से धार्मिक और सामाजिक अंध-विश्वासों और मिथ्या आडम्बरों को दूर कर दिया। भारतीय मुसलमानों पर इसका धीरे-धीरे ही क्यों न हो, प्रभाव पड़े बिना न रहा। दूसरे एशियाई देशों में चीन जैसे प्राचीन रूढ़ियों तथा रीति-रस्मों के समर्थक, तजा स्वेच्छाचारी शासन वाले देश ने प्रजातन्त्र राजप्रणाली का स्वागत किया। निदान, एक प्रकार से एशिया भर में जागृति का संचार हुआ, और इसका असर भारतवर्ष पर भी पड़ा।

५ **प्रवासी भारतीयों की दुरवस्था** -- समय-समय पर कई कारणों से भारतवासी विदेशों में गए। विशेषतया ब्रिटिश साम्राज्य में, उनके मानसिक तथा शारीरिक कष्टों का कुछ अन्त न रहा! दक्षिण अफ्रीका में उन्हें दास बनाकर रखा गया, बात-बात में उनके लिए लात-घूँसों, गालियों और हंटरों का उपयोग किया गया। स्त्रियों के सतीत्व की वहाँ रक्षा न हुई। शिक्षित, सभ्य और प्रतिष्ठित भारत सन्तान भी वहाँ 'काले आदमी' होने के कारण सड़कों, रेलगाड़ियों और

होटलों आदि में अपमानित की गई। ये बातें कब तक सहन की जातीं! अन्त में स्वाभिमानी भारतीयों ने वहाँ की उस सरकार से संग्राम छेड़ दिया, जिसके पास तोपें और बन्दूकें थीं, और थी कानून की अनियमित सत्ता। हज़ारों आदमियों और स्त्रियों ने मातृभूमि की मान-रक्षा के लिए कैद आदि की विविध यातनाओं का सहर्ष स्वागत किया। प्रवासी भारतीयों पर होनेवाले अत्याचारों ने इस देश से ब्रिटिश साम्राज्य का मोह हटाने में भारी सहायता दी। जो सत्याग्रह और असहयोग, शान्ति और अहिंसा, यहाँ आन्दोलन के प्राण रहे हैं, उनका प्रयोग पहले दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। इससे स्पष्ट है कि प्रवासी भारतीयों की दुरवस्था का, हमारी जागृति में कैसा महत्त्वपूर्ण भाग है।

भारतीय जागृति का विकास— साधारणतः हम यह कहना अनुचित नहीं समझते कि भारतीय जागृति का उन्नीसवीं सदी में धीरे-धीरे विकास हुआ; यथा-समय धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, और औद्योगिक आन्दोलन आरम्भ हुए। यद्यपि राजनैतिक जागृति का कुछ परिचय राजा राममोहन राय के कार्यों में भी मिलता है, साधारण तौर से उसे गत पैंसठ वर्ष की ही मानते हैं। भारतीय कांग्रेस या राष्ट्र-सभा की स्थापना ने जागृति के सभी आँदोलनों में नई जान फूँक दी। क्रमशः राष्ट्रीयता बढ़ती गई। प्रथम योरपीय महायुद्ध ने जागृति की गति और भी भी तेज कर दी। यह महायुद्ध स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धाँत को लेकर लड़ा गया था। भारतवासियों ने भारतवर्ष के लिए भी उस सिद्धान्त को लगाये जाने के वास्ते संसार के राष्ट्रों से अनुरोध किया और, जब इसमें शासकों की हिचकिचाहट देखी तो वे अपने पैरों पर खड़े होने को आरूढ़ हो गए। दूसरे महायुद्ध के समय लोगों पर बड़ी-बड़ी मुसीबतें आईं, पर जागृति का लक्ष्य हमारे सामने बना रहा। यह अनुभव किया गया कि राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्ति तक अन्य क्षेत्रों में भी यथेष्ट प्रगति नहीं हो सकती। इसलिए पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए नेता तथा जनता बेचैन हो गए। भारतीय राष्ट्र

की यह भावना सन् १६४२ में राष्ट्र-पिता म० गांधी के 'करो या मरो'-वाक्य में प्रकट हुई। आखिर, अगस्त १६४७ से भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया। यह घटना अनेक विदेशियों को ही नहीं, बहुत से भारतवासियों को भी चकित करने वाली हुई।

स्वतंत्र परन्तु विभक्त भारत--भारतवर्ष स्वतंत्र तो हुआ पर उसके साथ वह अखंड नहीं रहा। इसके दो राज्य हो गए—भारतीय संघ और पाकिस्तान। पाकिस्तानके भी दो भाग हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग है। मुख्य पाकिस्तान पश्चिम में है। इसमें पश्चिमी पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तथा इस ओर की रियासतें हैं। भारतवर्ष का शेष भाग अब भारतीय संघ कहलाता है। यद्यपि देश का विभाजन हो जाने से जनता के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और कई नई-नई समस्याएँ पैदा हो गईं, हम अब विविध क्षेत्रों में अपनी उन्नति करने के लिए स्वतंत्र हैं।

विशेष वक्तव्य--भारतीय जागृति के विवेचन की सुविधा के लिए हम जागृति के धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक आदि अंगों का अलग-अलग विचार करेंगे; वैसे असल में जागृति को जुदा-जुदा हिस्सों में बाँटा नहीं जा सकता। जिस तरह हमारे शरीर के विविध अंगों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार किसी जाति या राष्ट्र की धार्मिक आदि एक तरह की जागृति का दूसरे प्रकार की जागृति से गहरा सम्बन्ध होता है; यहाँ तक कि वह अकसर दूसरी का कारण होती है, अथवा उसका परिणाम। अगले अध्यायों को अवलोकन करते समय यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए।

दूसरा अध्याय

धार्मिक जागृति

हमारा आज का राजनैतिक जीवन समाज-सुधार के रास्ते आनेवाले धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरोत्थान का ही विकसित रूप है।

-- शान्तिप्रसाद वर्मा

धर्म बड़ी व्यापक वस्तु है; इसका अर्थ है कर्तव्य या फर्ज। धर्म के अन्दर हमारे सब तरह के कर्तव्य शामिल होते हैं। पर यहाँ हम धर्म का मतलब उन्हीं बातों से लेंगे, जिन्हें साधारण बोलचाल में धार्मिक समझा जाता है, जैसे ईश्वर की स्तुति प्रार्थना, नमाज़, संध्या-वन्दन या पूजा पाठ आदि। धार्मिक जागृति का मतलब यह है कि हम सब धर्मों से सहानुभूति और समता या बराबरी का भाव रखें; सब आदमियों को परम पिता परमात्मा की सन्तान मानते हुए उनसे बंधुत्व या भाईचारे का व्यवहार करें, और धर्म के नाम पर बर्ती जानेवाली उन सब कुरीतियों को दूर करें, जिनसे समाज या देश को हानि पहुँचती हो।

अठारहवीं सदी में धार्मिक स्थिति—भारतवर्ष में समय समय पर कितनी ही धार्मिक लहरें उठीं और शान्त हुईं। जब-जब आदमी कुमार्ग में जाने लगे, किसी-न-किसी महापुरुष ने लोगों को सच्चा रास्ता दिखाया। इस विषय में यहाँ विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं है। हमें खास तौर से यह जान लेना है कि अज्ञान के समय धर्म का ज्ञान-भाग कम हो जाता है और कर्मकाँड यानी बाहरी रीति-रस्मों का महत्व बहुत ज्यादह हो जाता है। आदमियों में स्वतन्त्र विचार करने की भावना या शक्ति नहीं रहती, वे विविध धार्मिक कार्यों के असली उद्देश्यों को भूलकर, केवल रूढ़ियों के उपासक बन बैठते हैं।

वे यह नहीं सोचते कि अमुक कार्य करना उचित है या नहीं; और, यदि उसे करना चाहिए तो क्यों। वे परम्परा के आधार पर चलते हैं, या दूसरों को देखादेखी अपना कार्य-क्रम बनाते हैं। इस प्रकार अन्ध श्रद्धा, तर्क-शून्यता और तंगदिली का साम्राज्य हो जाता है। यह बात अठारहवीं सदी के अन्त में, यहाँ विशेषतया बंगाल में बहुत ज्यादह थी। इस प्रान्त के आदमी धर्म के असली आदर्श को भूल कर काली-पूजा आदि की आड़ में बेढब हिन्सा कर रहे थे; यहाँ तन्त्रवाद का खूब प्रचार था, और धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार हो रहे थे।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म-समाज श्री० राजा राममोहनराय (सन् १७७४-१८३३ ई०) वर्तमान जागृति के प्रवर्तक या आरम्भ करनेवाले माने जाते हैं। उन्हंने उस समय की हालत पर विचार किया, संस्कृत भाषा के वेदान्त सूत्रों को बंगला और हिन्दी में छपाया, तथा कई उपनिषदें हिन्दी और अंगरेजी की टीका सहित छपवाईं, जिससे साधारण बुद्धि वाले भी उन्हें समझ सकें; वे स्वार्थी पण्डितों का बताया हुआ उलटा-सीधा अर्थ न मान लिया करें; वे जानलें कि हमारे मूल शास्त्रों के अनुसार जगत को बनानेवाला उसकी रक्षा करनेवाला, और उसका नाश करनेवाला केवल ईश्वर ही है, और वही उपासना या पूजा के योग्य है।

राजा साहब के द्वारा सन् १८२८ में स्थापित ब्रह्म-समाज के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार थे :—अखिल ब्रह्माँड का स्वामी, निराकार, अनादि और अनन्त परमेश्वर हो पूजा के योग्य है, किसो साम्प्रदायिक नाम से उपासना नहीं हो सकती। चाहे जिस जाति, सम्प्रदाय, धर्म, समाज या पद के क्यों न हों, सब मनुष्यों का, परमेश्वर की उपासना करने के लिए समान अधिकार है। किसी प्रकार का चित्र, प्रतिमा, मूर्ति या ऐसे पदार्थ का उपासना में उपयोग न किया जायगा, जिसको किसी समय ईश्वर के स्थान में माने जाने की शंका हो। पूजा में कोई खाने-पीने की चीज़ नहीं चढ़ाई जायगी, और कोई बलिदान न किया जायगा। किसी प्रकार

की जीव-हिंसा न की जावेगी। बहुत ही आवश्यकता हुए बिना उपासना-मन्दिर में कोई खान-पान न किया जायगा। किसी जीव या पदार्थ को, जिसे कोई मनुष्य या सम्प्रदाय पूज्य मानता हो, निन्दा न की जायगी। मन्दिर में केवल उसी प्रकार की कथा, प्रार्थना और संगीत होगी जिससे सृष्टिकर्ता का ध्यान करने की ओर अधिक रुचि हो, और जिससे प्रेम, नीति, भक्ति, दया और साधुता का उत्तरोत्तर अधिक प्रचार हो, तथा सब प्रकार के मत मतान्तर वाले मनुष्यों का बड़ा शक्तिशाली संगठन हो सके।

इन बातों में सार्वभौम उपासना का भाव ही राजा राममोहन राय की विशेषता है। दूसरी बातें यहाँ हज़ारों वर्ष से मालूम थीं, हाँ उस समय अमल में नहीं आ रही थीं; राजा साहब ने उन्हें फिर याद दिलाया। ब्रह्म-समाज का रूप हिन्दू-धर्म से मिलता है, तथापि सर्व-साधारण में सभा करके प्रार्थना करना आदि कुछ विदेशी भाव भी हैं। जब कि एक ओर नई (पाश्चात्य) सभ्यता का मनोहर स्वरूप सामने हो और दूसरी ओर स्वदेश का अज्ञान, अन्धकार, कुरीति, कलह, फूट, निर्बलता, और अत्याचार विद्यमान हो, तो प्रथम सुधारक संस्था में कुछ विदेशी भाव का आजाना स्वाभाविक है। निस्संदेह राजा साहब और ब्रह्म-समाज ने, तथा पीछे देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित नवीन ब्रह्म-समाज और आदि-ब्रह्म-समाज ने, और बम्बई प्रान्त की प्रार्थना-समाज ने अपने क्षेत्र तथा शक्ति के अनुसार दीन-दुखी जनता को आशामय भविष्य की सूचना दी। इन्होंने अनेक कठिनाइयों को सहन कर, प्रचलित अन्ध विश्वास और कट्टरता का निर्भीकता से सामना किया, तथा आनेवाले कार्यकर्ताओं के लिए रास्ता कुछ आसान कर दिया।

परन्तु विशाल भारत के घोर अन्धकार के समय इनका प्रकाश काफी नहीं हुआ। भारतीय प्रकृति इस पाश्चात्य ढंग के आन्दोलन के अनुकूल भी नहीं थी। ब्रह्म-समाज का क्षेत्र विशेषतया बंगाल प्रान्त में

ही रहा। यहाँ भी अधिकतर पढ़े-लिखे आदमी ही इसमें शामिल हुए। यद्यपि इसने हरिजन आन्दोलन आदि में भाग लिया है, प्रायः यह संस्था प्रगतिशील नहीं रही है। इसने जनता की समय-समय पर उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को हल नहीं किया; इसका प्रचार भी सर्वसाधारण में कम रहा। अस्तु, एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी, जो भारतीय जनता की जागृति में मदद देने के साथ उसे अपने पैरों पर खड़े होने का संदेश दे, और पश्चिमी रंग में रंगे जाने से बचाए।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज—इस प्रकार की संस्था के जन्मदाता श्री० स्वामी दयानन्द (सन् १८२४-८३ ई०) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने जीवन भर ब्रह्मचारी रह कर वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और मनन किया; भारतीय शिक्षा और सभ्यता को ही आदर्श माना; और वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का मूल श्रोत मानते हुए, उन्हीं को जागृति का आधार बनाया। इन्होंने सुधार-मंत्र की दीक्षा अंग्रेज़ी शिक्षा से नहीं ली थी, ये पाश्चात्य सभ्यता पर मुग्ध नहीं हुए थे। तथापि इन्होंने स्थान-स्थान पर विशेषकर पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बम्बई और राजपूताने में घूम-फिरकर, विविध विषयों पर व्याख्यान और उपदेश देकर, सर्वसाधारण में धार्मिक और सामाजिक जागृति की। सुधार-कार्य जारी रखने के लिए स्वामीजी ने कुछ स्थानों पर अपने जीवन-काल में ही आर्यसमाजें स्थापित करदी थीं। बहुत से स्थानों में इन समाजों की स्थापना इनके बाद हुई। इन संस्थाओं ने वैदिक धर्म का प्रचार किया; विविध सामाजिक कुरीतियों के अलावा, मंदिरों और तीर्थों की बुराइयों को दूर किया। आर्य समाज ने बड़ी दृढ़ता से हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरव, सभ्यता और आदर्श की याद दिलाकर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की खूब कोशिश की।

आर्य समाज का सबसे अधिक प्रचार पंजाब में हुआ। दूसरे प्रान्तों में भी इसका ख़ासा प्रभाव पड़ा। इसने जनता में भरसक काम किया। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि स्वामी दयानन्द जी की भाषा

गुजराती थी, पर हिन्दी की व्यापकता का विचार करने पर वे इस भाषा के प्रबल समर्थक हो गए। उन्होंने इसे 'आर्यभाषा' कहा, और अपने सब ग्रन्थ इसी भाषा में प्रकाशित करना उचित समझा। इस प्रकार आर्य समाज का अधिकांश साहित्य हिन्दी भाषा में ही प्रकाशित हुआ।

शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में आर्य समाज में दो दल रहे हैं—एक, प्राचीन ढंग की गुरुकुल-प्रणाली का समर्थक है; दूसरा आधुनिक पद्धति के कालिजों और स्कूलों का। समाज-सुधार में यह बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि आदि में लगा है। यद्यपि कहीं-कहीं समाजों में दलबन्दी के कारण कुछ दोष दिखाई देते हैं, प्रायः आर्य-समाजी खूब उत्साह से काम करते हैं, और अपनी संस्था को समयानुकूल उपयोगी और जीवित जागृत रखने में लगे रहते हैं।

कर्नल आल्काट और थियोसोफ़ी — चिरकाल के सोए हुए, अपना पूर्व गौरव भूले हुए राष्ट्रों का उत्थान एक दम नहीं हो पाता। भारतवर्ष की जागृति के लिए अन्य आन्दोलनों की भी आवश्यकता थी। स्वामी दयानन्द यह शंख-नाद कर चुके थे कि भारतीय (वैदिक) धर्म किसी बात में अन्य (विदेशी) धर्मों से कम गौरव का नहीं—यह सब का सिरताज है। पर अधिकांश आदमियों को इस पर विश्वास नहीं होता था। वे सोचते थे कि स्वामी दयानन्द तो भारतीय ही हैं, उनका भारतीय धर्म की प्रशंसा करना स्वाभाविक ही है। संयोग से, स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती के सहयोग से कर्नल आल्काट यहाँ (सन् १८७९ ई० में) पधारे। ये अमरीका निवासी थे। इन्होंने, और रूसी महिला एच. पी. बलेवट्स्की ने, न्यूयार्क नगर में १८७५ ई० में थियोसोफ़ीकल सोसायटी स्थापित की थी। विदेशियों द्वारा विदेश में ही स्थापित इस सभा के अधिकांश सभासद भी विदेशी ही हैं, परन्तु इसने भारतीय राष्ट्र के उत्थान में अच्छा भाग लिया है। विश्वव्यापी भ्रातृभाव का उपदेश सुनाते हुए इस सोसायटी ने हिन्दुओं को सुझाया

कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म वास्तव में बहुत ऊँचे दर्जे का है, उसका गौरव पहिचानो; उसमें जो दुर्गुण आ घुसे हैं, उन्हें निकाल बाहर करो; स्वधर्म पर दृढ़ रहो, ईसाई पादरियों के बहकावे में आकर उससे बिलकुल न हटो। आर्य समाज की खण्डन-मण्डन की नीति से दूर रहते हुए थियोसोफ़िकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म की अनेक ऐसी बातों का गूढ़ रहस्य भी दर्शाया, जो केवल अन्ध-विश्वास के कारण मानी जा रही थीं, परन्तु जिनका असली उद्देश्य भुला दिया गया था।

भारतवर्ष में इस सोसाइटी की स्थापना अदयार (मदरास) में हुई। कुछ समय बाद सुप्रसिद्ध आयरिश महिला श्रीमती एनीविसेन्ट इसमें योग देने लगीं। इनके महान व्यक्तित्व से इस संस्था में अनेक विद्वान तथा नेता शामिल हो गए। सोसायटी का कार्यालय भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध धर्म-केन्द्र काशी में रखा गया। यहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कालिज स्थापित हुआ, जो अब हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है। विविध स्थानों में इस सोसायटी की ओर से स्कूल खोले गए। अब भी, विशेषतया छोटे बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए यह सोसायटी बहुत अच्छे विद्यालयों और छात्रावासों का संचालन कर रही है। शिक्षा-प्रचार के अतिरिक्त समाज-सुधार में भी इस संस्था ने अच्छा भाग लिया है। यह सोसायटी कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में हिन्दुओं की ही तरह विश्वास करती है, और इन्हें नए ढंग से युक्तियों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध करती है। भारत के शिक्षित हिन्दुओं में इसका खूब स्वागत हुआ। डाक्टर एनीविसेंट और जार्ज अरंडेल आदि महानुभावों के व्याख्यानों, लेखों और पुस्तकों का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

स्वामी विवेकानन्द, और रामकृष्ण मिशन—अमरीका आदि देशों में हिन्दू धर्म की घोषणा करने का विशेष यश श्री० रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३३-१६०२ ई०) के प्रसिद्ध शिष्य श्री विवेकानन्द जी को है। इन्होंने, तथा इनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने जनता का वेदान्त सम्बन्धी भ्रम दूर करके उसे समयोपयोगी शिक्षा दी

और इस नीरस विषय को श्रोताओं के सामने बड़ा सरस बना कर रखा। स्वामी विवेकानन्द जी ने अमरीका में होनेवाले सर्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लिया। आपके भाषणों से श्रोता बहुत प्रभावित हुए। उन्हें अब पता लगा कि हिन्दू धर्म और दर्शन आदि इतने पिछड़े हुए नहीं है, जितना पादरियों ने बताया है; वास्तव में भारतवर्ष हमें बहुत-कुछ शिक्षा देने के योग्य है। अमरीका में कितने ही सुयोग्य पुरुष और स्त्रियाँ स्वामी जी की शिष्य हो गईं। और वेदान्त का प्रचार करने लगीं।

स्वामी जी ने भारतवासियों को 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का उपदेश दिया। इनके ग्रन्थों ने पाठकों में नवजीवन और आत्म-विश्वास का संचार किया। इन्होंने दृढ़ विश्वास पूर्वक यह घोषणा की—"लम्बी से लम्बी रात अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। जो लोग अब भी यह नहीं देख सकते कि हमारी यह मातृभूमि अपनी गहरी लम्बी नींद से जाग रही है, वे या तो नेत्र-हीन हैं, या जान बूझ कर ज़िद्दी हैं। कोई अब उसे रोक नहीं सकता, कदापि अब वह सो नहीं सकती। संसार को कोई शक्ति या शक्तियाँ अब उसे पीछे नहीं हटा सकतीं, क्योंकि वह अनन्त शक्तिशाली देवी अपने पैरों पर खड़ी हो रही है।"

स्वामी रामतीर्थ ने अपने प्रभावशाली भाषण और लेखों से देश-पूजा और राष्ट्र-धर्म का खूब प्रचार किया। आपका कथन था कि "जैसे शैव शिव की पूजा करता है, वैष्णव विष्णु की, ईसाई ईसा को, और मुसलमान मोहम्मद की उपासना करता है; वैसे प्रेम में लीन होकर मैं भारत के दृश्य को अपने हृदय में लाकर उसकी पूजा करता हूँ। भारत माता के हर एक लाल को मैं मूर्तिमान भारत ही समझकर उसकी पूजा करने लगता हूँ। हे भारत माता! मैं तेरे हर एक रूप में तेरी उपासना करता हूँ। तू ही मेरी काली है, तू ही मेरा इष्टदेव है, तू ही मेरा सालिगराम है।"

श्री० विवेकानन्द और रामतीर्थ ने यह सिद्ध कर दिखाया कि संसार

में हिन्दू सभ्यता का उच्च स्थान है और हिन्दुओं का वेदान्त धर्म और तत्वज्ञान, केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मनुष्य मात्र के कल्याण के वास्ते है। रामकृष्ण मिशन की ओर से अनेक स्थानों में सेवा-आश्रम स्थापित हैं, जो विशेषतया रोगियों की चिकित्सा का अच्छा काम कर रहे हैं।

इन आन्दोलनों का प्रभाव—भारतवर्ष की जनसंख्या को देखते, इन संस्थाओं के सभासद विशेष नहीं है। अधिकाँश आदमी सनातनधर्मी ही हैं, परन्तु इन आन्दोलनों का प्रभाव थोड़ा-बहुत उन पर भी पड़ा है। उदाहरण के तौर पर बहुत से मनुष्य, जो अपने आपको साफ़ तौर पर आर्यसमाजी स्वीकार नहीं करते, कार्य-रूप में बहुत-कुछ आर्यसमाजी हैं। अब 'सुधार' से लोगों को पहले के समान घृणा सी नहीं रही। देश में ऐसी अनेक सभा-सोसाइटियाँ हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में कुछ सुधार-कार्य कर रही हैं।

हाँ, धार्मिक कही जानेवाली अधिकतर संस्थाओं का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण है। ये संस्थाएँ धार्मिक क्रान्ति पैदा न कर, एक प्रकार से सम्प्रदाय, पन्थ या मठ के रूप में जीवित हैं, और मानसिक पराधीनता को बनाए रखने में सहायक हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी आचार्य की बातों को 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' समझना कुछ विशेष ग्रन्थों की दासता, प्रत्येक नए विचार को प्राचीन ग्रन्थों में खोजना; और उससे आगे बढ़ने में असमर्थ होना धार्मिक जागृति के विरुद्ध जाना है। आशा है, प्रत्येक धार्मिक संस्था के अधिकारी इस खरी बात पर भली भाँति विचार कर के अपना महान कर्तव्य पालन करेंगे।

भक्ति सम्प्रदाय—ऊपर उन संस्थाओं के सम्बन्ध में लिखा गया है, जिनका जन्म जागृति-काल में हुआ है। भक्ति सम्प्रदाय भारतवर्ष की प्राचीन सम्पत्ति है, इस समय भी यह बड़े परिमाण में मौजूद है, और आधुनिक अशान्ति के समय इसकी वृद्धि हो रही है। अनेक भक्तोंने समय-समय पर लोगों के सामने धर्म का विशाल दृष्टिकोण रखा है।

वैष्णव, शैव, शाक्त महात्माओं ने अपने-अपने समय में जनता की अच्छी सेवा की है। अब भी सिद्धान्त से प्रत्येक वैष्णव, यह मानता है कि वैष्णव धर्म की दीक्षा लेनेवाले सब आदमी बराबर हैं, उनमें जाति या वर्ण का भेद नहीं रहता। इसी प्रकार शैव और शाक्त भी अपने-अपने क्षेत्र में एकता का विचार रखते हैं। सबका कथन है कि 'हरि को भजे सो हरि का होई, जाति-पाँति पूछे नहीं कोई।' परन्तु खेद है कि प्रत्येक सम्प्रदाय की उदारता अपने-अपने क्षेत्र तक परिमित है, उस क्षेत्र से बाहर की दुनिया को वह उसी दृष्टि से नहीं देखता। अनेक बार तो जुदा-जुदा सम्प्रदायों के आदमी दूसरों से वाद-विवाद करने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। यही नहीं, यदि कोई दलित जाति का, या विदेशी, या अन्य धर्मावलम्बी उनके धर्म की दीक्षा भी ले लेता है, तो कभी-कभी उससे भी अलहदगी का विचार रखा जाता है। धार्मिक जागृति चाहती है कि इस स्थिति में यथेष्ट परिवर्तन हो!

अब हम कुछ 'धार्मिक' मतभेद के विषयों पर विचार करेंगे!

मूर्ति-पूजा—धर्म सम्बन्धी मत-भेद का एक मुख्य प्रश्न यह है कि ईश्वर साकार है, या निराकार। इसके वादविवाद में यहाँ बहुत-सा समय और शक्ति लगाई गई; हज़ारों मनुष्यों की उपस्थिति में, बड़े-बड़े पण्डितों और शास्त्रियों में कई-कई दिन तक खूब जोर-शोर से शास्त्रार्थ और खंडन-मंडन हुए, परन्तु प्रायः अच्छा नतीजा न निकला। सन्तोष की बात है कि अब इन कामों में शक्ति का दुरुपयोग कम हो रहा है। परन्तु अब भी बहुत से आदमी यह नहीं सोचते कि ईश्वर को खुश करने के लिए वृथा आडम्बर की आवश्यकता नहीं। मूर्ति-पूजकों के लिए थोड़े से खर्च से, एक साधारण मन्दिर में प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है। परन्तु अनेक देवालय ऐसे हैं, जहाँ आवश्यकता से कई गुणा अधिक रुपया लगा दिया गया है। बहुत से नगर ऐसे हैं, जहाँ एक-एक मन्दिर से काम निकल सकता था; धनी लोगों ने अपना धर्म-भाव दिखाने के लिए वहाँ अलग-अलग मन्दिर बनवा डाले। भारतवर्ष की वर्तमान दशा

में इस तरह की फजूलखर्ची को बन्द करने की सख्त ज़रूरत है।

श्रद्धा का सदुपयोग—मूर्ति-पूजा और तीर्थ यात्रादि में जन-साधारण की जो श्रद्धा बनी हुई है, उसका सहसा उठ जाना सम्भव नहीं; हमारे विचार से उसके वास्ते झगड़ा करने को आवश्यकता भी नहीं। देश-हित के लिए यह ज़रूरी है कि उस शक्ति का देश-काल के अनुसार ही सदुपयोग हो। हमें चाहिए कि मन्दिरों, मठों और तीर्थ-स्थानों के साथ-साथ पुस्तकालय, वाचनालय, औषधालय आदि उपयोगी संस्थाएं जोड़ दें, जिससे भेंट पूजादि में जो धन आवे; उसमें से उन्हें काफी सहायता मिले। मन्दिरों और मठों को स्थायी सम्पत्ति तथा जागीर की आमदनी का भी इसी प्रकार सद्व्यय हो। पुजारी पण्डों और महन्तों के बहुत योग्य, देश-हितैषी और उच्च विचार वाले होने की जरूरत है।। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है। कई स्थानों में मंदिरों और मठों की आमदनी सार्वजनिक कामों में खर्च की जाती है। बद्रीनाथ (गढ़वाल) आदि के लिए तो इस विषय का कानून ही बन गया है।

दान-धर्म—बहुत से आदमी दान-पुण्य करते समय इस बात का विचार नहीं करते कि कैसे आदमी को दान दिया जाना चाहिए; वे अपनी श्रद्धा से, ऐसे हट्टे-कट्टे भिखारियों या बनावटी साधु-संन्यासियों को भी भोजन-वस्त्र आदि देते रहते हैं, जिनका जीवन देश के लिए किसी प्रकार भी लाभकारी नहीं। इस प्रकार का दान धर्म परावलम्बन बढ़ाता है। यदि हम इन्हें मुफ्त में न खिलाएँ-पिलाएँ तो ये अवश्य ही अपने निर्वाह के लिए कुछ मेहनत करें, और देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक हों। हाँ, अनाथ बालकों, विधवाओं और अपाहिजों आदि की सहायता हर किसी को करनी चाहिए, और वह भी इस लोक या पर-लोक में मिलनेवाले फल की आशा को छोड़कर। आवश्यकता है कि भिन्न-भिन्न समाजें इस सम्बन्ध में यथेष्ट लोकमत तैयार करें। हमारा दान-धर्म ऐसा हो, जिससे भिखारी भी योग्य नागरिक बनें, तथा अपना आवारापन और बुरी आदतें छोड़ कर समाज की भलाई के लिए

जी-जान से कोशिश करने लगें।

हरिजन-मंदिर-प्रवेश--जागृति-काल में इस विषय पर भी विचार किया गया कि हिन्दू-मंदिरों में दलित जातियों के आदमियों को दर्शन करने की मनाही न रहे; उनको तो भगवान के राम, कृष्ण, शिव आदि स्वरूपों में वैसी ही भक्ति है, जैसे दूसरे हिन्दुओं की। केवल हरिजन होने के आधार पर अनेक आदमियों को मन्दिर-प्रवेश न करने की बात अनुचित है। महात्मा गाँधी को यह अन्याय सहन न हुआ। उन्होंने उसे हटाने का आन्दोलन किया; उनकी इच्छा से, भारतीय व्यवस्थापक सभा में हरिजन मंदिर-प्रवेश-बाधा-निवारण प्रस्ताव और अस्पृश्यता-निवारण प्रस्ताव उपस्थित करने का विचार किया गया। पुराने विचारवालों ने इन प्रस्तावों का घोर विरोध किया। महात्मा जी और दूसरे कार्यकर्त्ता उनके आक्षेपों का जवाब देते रहे, और, प्रस्तावों के पक्ष में लोकमत बढ़ाते रहे। पीछे ये प्रस्ताव पेश नहीं किए गए; पर इस सम्बन्ध में लोक-मत जागृत करने का प्रयत्न चलता रहा। इसके फलस्वरूप अनेक सनातनी विचार वाले हिन्दुओं का भी दृष्टिकोण बदला, और कितने ही मंदिरों में हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध नहीं रहा। उदाहरण के लिए ट्रावंकोर के महाराजा साहब ने पुराने कट्टर विचारों के होते हुए भी सन् १९३६ में हरिजनों के लिए राज्य के सब मन्दिरों को खोलने की घोषणा की, जिनकी संख्या एक हजार से अधिक है।

शुद्धि-आन्दोलन—जागृति-काल में शुद्धि-आन्दोलन ने बहुत प्रगति की। इसमें स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि सज्जनों ने और आर्य समाज तथा भारतवर्षीय शुद्धि-सभा ने विशेष कार्य किया है। शुद्धि का रिवाज पुराना होने पर भी आधुनिक शुद्धि-आन्दोलन मुसलमानों के तबलीग (धर्म-परिवर्तन) आन्दोलन का जवाब है। मुसलमानों ने अपनी संख्या बढ़ाने के लिए गरीब या कमज़ोर हिन्दुओं को अपने मज़हब में धूमधाम से मिलाया तो आख़िर, सुधारक हिन्दुओं ने, खासकर आर्य समाज ने भी 'शुद्धि' करनी शुरू कर दी। इससे साम्प्रदायिकता बढ़ी,

दंगे हुए, लोगों के जानमाल की हानि हुई। इसकी ज़िम्मेवरी अदूरदर्शी मुसलमानों पर है। हम जिस अधिकार का उपयोग कर रहे हैं, उसका हमें दूसरों के लिए निषेध नहीं करना चाहिए। हाँ, हिन्दुओं को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी का यह समझना ठीक नहीं है कि मैं उच्च या शुद्ध हूँ, और दूसरे धर्म वाले अशुद्ध या नीच हैं। मनुष्यों की ऊँचाई-निचाई का माप, तथा शुद्ध-अशुद्ध होने की कल्पना ऐसे आधार पर की जानी चाहिए, जिससे उनमें गुणों की वृद्धि हो, उनमें मनुष्यता या इन्सानियत, सफाई, दया, उदारता, परोपकार और सेवा-भाव आदि का विकास हो। इस प्रकार, जिनको हम हिन्दू बनाते हैं, उनके प्रति हमारा कितना उत्तरदायित्व है, यह साफ जाहिर है। यदि हम केवल संख्या बढ़ाने की चिन्ता न कर, इन सब बातों का विचार रखें तो हम कितने अच्छे मनुष्य हो जायँ, और दूसरों के अच्छे मनुष्य होने में कितने सहायक हो सकें! परन्तु हम तो प्रायः अपने को शुद्ध, तथा दूसरों को अशुद्ध समझते रहते हैं। क्या हो अच्छा हो, हम अपने मानसिक विकारों को हटा कर, अपनी शुद्धि का विचार करें, सब को अपना भाई-बन्धु मानकर उनकी यथाशक्ति सेवा और सहायता करते रहा करें।

मुसलमानों में जागृति—भारत में अंगरेजों का राज्य बढ़ने के साथ-साथ मुसलमानों पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। परन्तु मुसलमानों के मन में पिछले दिनों की हकूमत की भावना बनी हुई थी। अब वे बड़े-बड़े ओहदों से वंचित थे। कला-कौशल भी उनके हाथ से निकल गया था। अंगरेज शासक भी उनके प्रति सशंक थे। निदान, वे बहुत समय तक अंगरेजी सभ्यता आदि से बचते-से रहे। इनमें अंगरेजी शिक्षा आदि का प्रचार और नए सुधार करने का श्रेय खासकर सर सय्यद अहमद खाँ (सन् १८१७-६८) को है। मुसलमानों की जागृति में सर सय्यद का स्थान बहुत-कुछ वैसा ही कहा जा सकता है, जैसा हिन्दुओं की जागृति में राजा राममोहन राय का था, जिनका जन्म इनसे ४३ वर्ष पूर्व सन् १७७४ में हुआ था।

यहाँ के अधिकाँश मुसलमान अशिक्षित और कट्टर विचारों के तो थे ही, इस पर उन्हें कुछ अधिकारियों का इशारा मिला। वे हिन्दुओं की जागृति को आशंका की दृष्टि से देखने लगे। कुछ मुसलमानों ने अपनी जाति के नेता बनकर अपने भाइयों को नई रोशनी से बचने, और हिन्दुओं से असहयोग करने को उकसाया। बस; कहीं मसजिदों के सामने हिन्दुओं का बाजा रोकने का प्रश्न उठा, कहीं गाय की कुर्बानी धूमधाम से की जाने लगी, कहीं द्वेष बढ़ानेवाली साम्प्रदायिक माँग होने लगी। हाँ, यह बात केवल शहरों के शिक्षित या स्वार्थी मुसलमानों के बारे में कही जा रही है; स्वतन्त्र और उदार विचार वालों ने तो इस प्रवाह को यथा-शक्ति रोकने का ही प्रयत्न किया; गाँवों में, और साधारण श्रेणी के मुसलमानों का, अकसर हिन्दुओं से बड़ा मेलजोल रहा है।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से मुसलमानों पर बड़ा हितकर प्रभाव पड़ा। उनकी हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति और सहयोग का भाव बढ़ा। सन् १६२१ में देखा गया कि सहृदय मुसलमान हिन्दुओं का जी दुखानेवाली कुर्बानियों से स्वयं परहेज करते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं। समझदार मुल्ला तथा मौलवी कुरान की 'आयतों' से जनसाधारण को देशोन्नति का उपदेश करते हैं, और उन्हें बैर-विरोध बढ़ानेवाले, तथा दूसरे अहितकर कार्यों से रोकते हैं। शंख या झाँझ बजाने से नाराजी नहीं होती। हिन्दुओं का दशहरा और मुसलमानों के मुहर्रम साथ-साथ शान्तिपूर्वक होने लगे। मसजिदों में हिन्दुओं का स्वागत और हिन्दू त्योहारों के अवसर पर मुसलमानों का सेवा-भाव देखा गया। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल हो जाने पर कुछ उद्दण्ड मुसलमानों ने जहाँ-तहाँ फिर खतरनाक हालत पैदा करदी, और कानपुर के श्री० गणेशशंकर जी विद्यार्थी जैसे नर-रत्नों का बलिदान हुआ। अफसोस है कि मुसलमान समाज ने इसकी निन्दा नहीं की। यह साफ जाहिर है कि साधारण मुसलमानों में धार्मिक जागृति, सहिष्णुता और समभाव स्थायी रूप से बहुत कम हुआ है। यद्यपि पाकिस्तान बन जाने के बाद

भारतीय सङ्घ में रहनेवाले मुसलमानों में इस राज्य के प्रति वफादार रहने की भावना धीरे-धीरे बढ़ी है, और उनमें अब पहले जैसी कट्टरता नहीं रही, तथापि हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध ठीक करने के लिए सुधारकों को अभी बहुत कार्य करना शेष है।

अन्य धर्मावलम्बियों में जागृति—जागृति का कार्य थोड़ा-बहुत यहाँ के सभी धर्मों के अनुयायियों में हुआ है। ईसाइयों और पारसियों में पहले से ही अन्ध-श्रद्धा वाली रूढ़ियाँ कुछ कम थीं, इसलिए इनमें परिवर्तन या सुधार भी कम हुए। विचारशील ईसाई धर्माधिकारियों ने यह अनुभव किया कि भारतवर्ष में ईसाइयों के जो अनेक भेद हैं, तथा उनमें प्रचलित धार्मिक प्रथाओं में जो अन्तर है, उन्हें दूर करके, सब का एक विशाल संगठन किया जाय। इस दिशा में, अच्छा प्रयत्न हुआ है, और उसमें ख़ासी सफलता भी हुई है। फिर, पहले मिशन स्कूलों की स्थापना से धर्म-प्रचार की, अर्थात् दूसरे धर्मवालों को ईसाई बनाने की, बड़ी आशा की गई थी, वह पूरी नहीं हुई। मिशन संस्थाओं में पढ़नेवाले अनेक विद्यार्थी तो ईसाई धर्म सम्बन्धी बातों की कड़ी आलोचना करने लगते हैं, यह देखकर नए मिशन स्कूलों आदि की स्थापना के सम्बन्ध में अब उत्साह बहुत कम हो चला है। अकसर पुरानी संस्थाएँ ही चलाई जा रही हैं, और उनमें धर्म-प्रचार के साथ शिक्षा-प्रचार का भी लक्ष्य रहता है। भारतवर्ष के अनेक स्थानों में सुयोग्य पादरी भाषण देते समय ईसाई धर्म सम्बन्धी पौराणिक बातों की, ऐसे ढङ्ग से व्याख्या करते हैं कि बुद्धि आसानी से मानले। उन्हें उतनी चिन्ता अपने मतानुयाइयों की संख्या बढ़ाने की नहीं होती, जितनी इस बात की, कि दूसरे सज्जन ईसाई धर्म को वैज्ञानिक धर्म समझें, तथा ईसाई धर्म को माननेवाले अपने व्यवहार और सेवा से इस मत को दूसरों की नज़र में आकर्षक और ऊँचा बनाएँ। बहुत-से स्थानों में मिशन अस्पताल सर्वसाधारण जनता की बड़ी सेवा कर रहे हैं। यही बात पारसियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनकी भी अनेक संस्थाएँ उनके दान-

धर्म की घोषणा कर रही हैं। जो हो, धार्मिक दासता के विरुद्ध चारों ओर आवाज बुलन्द हो रही है, विचार-स्वतन्त्रता का युग है। यह बात थोड़ी-बहुत सभी धर्म वाले समझ गए हैं, और इसलिए अपने आचार-विचार में परिवर्तन कर रहे हैं।

धार्मिक जीवन — इतनी जागृति होने पर भी, बीसवीं सदी का करीब आधा हिस्सा बीत जाने पर भी, कितने ही आदमी खासकर बाहरी दृष्टि से ही धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं; आन्तरिक सुधार की ओर काफी ध्यान नहीं देते। मिसाल के तौर पर अनेक आदमी सवेरे उठकर गंगा यमुना आदि में स्नान करते हैं, फिर रेशमी या ऊनी कपड़े पहिनते हैं, कई-कई घंटे पूजा-पाठ या जप करते हैं, एक या अधिक मन्दिरों में भगवान का दर्शन किए बिना भोजन नहीं करते। ये भोजन में 'कच्ची-पक्की' रसोई का पूरा विचार रखते हैं, कच्ची रसोई केवल खास-खास ब्राह्मणों के सिवाय और किसी के हाथ की नहीं जीमते; कपड़े उतार कर (केवल धोती पहने), भोजन करते हैं; छुआछूत का परहेज़ करते हैं, चूल्हे-चौके नियमों की पूरी पाबन्दी करते हैं, प्रति दिन कुछ गीता भागवतादि का पाठ या कथा सुनते हैं, समय-समय पर साधुओं और ब्राह्मणों को दान देते रहते हैं, वर्ष छः महीने में तीर्थ-यात्रा भी करते रहते हैं। और, इस प्रकार के जितने भी बाहरी काम उनसे बन पड़ते हैं, उनके करने में सब तरह का कष्ट और व्यय सहन करते हैं।

इनका बाहरी जीवन बड़ा निर्मल होता है। लेकिन इनका भीतरी जीवन, और दूसरे भाइयों से नागरिक व्यवहार बहुत अच्छा नहीं होता; कभी-कभी तो उसमें बहुत ही दोष होते हैं। खासकर दूसरे योरपीय महायुद्ध के आरम्भ होने के समय (सन् १६३६) से चोर-बाजारी, मुनाफेखोरी, रिश्वतखोरी, और बेईमानी आदि भ्रष्टाचार कितने भयंकर रूप से बढ़ा हुआ है, यह कौन नहीं जानता। विशेष दुख की बात यह है कि धन-प्राप्ति के इन निन्दनीय उपायों को काम में लाने वालों में उन लोगों की संख्या कुछ कम नहीं है, जो अपने आपको

धार्मिक जीवन बितानेवाला और परलोक की चिन्ता करनेवाला समझते हैं, और समाज में भी ऐसे ही समझे जाते हैं। आवश्यकता है कि धर्म केवल कुछ बाहरी बातों में ही न समझा जाय। उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक ध्यान हमारे दिन-रात के आपसी व्यवहारों, और मन या दिल की शुद्धि की ओर दिया जाना चाहिए।

धर्म का सच्चा स्वरूप— हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई हों या पारसी, सभी मनुष्य एक परम पिता की संतान हैं। हिन्दुओं का ईश्वर, मुसलमानों का ख़ुदा, और ईसाइयों का 'गाड' अलग-अलग नहीं है। सब एक ही है। वही धनवानों का पिता है, वही गरीबों का; वही उच्च समझी जानेवाली श्रेणियों का है, वही नीच कही जानेवाली जातियों का। हमें ईश्वर तथा उसकी विश्व-व्यापी सन्तान के अलग-अलग टुकड़े नहीं करने चाहिएँ। हम चाहे जिस धर्म के अनुयायी हों, अपने मनुष्यत्व को न भूलें। भाईचारे के मूल मन्त्र को भली भाँति अपने हृदय में धारण करें। निदान, हम अपने भाई बन्धुओं का कष्ट दूर करने को तैयार रहें और अपने देश की उन्नति करने के साथ, संसार के दूसरे पिछड़े हुए देशों की भलाई में लगे रहें। मनुष्यों को प्रेम करो, ईश्वर प्रसन्न होगा। नीचे गिरे हुओं को ऊपर उठाओ, दुखियों को गले लगाओ और उनका दुख घटाओ; जनता की जो लगाकर सेवा करो, उनके लिए सर्वस्व अर्पण करो—यही सच्ची ईश्वर-पूजा है, यही सच्ची हरि-भक्ति है।

धर्म और देशोन्नति--यदि हम इन बातों पर अमल करें, तो हम अपने गाँव या नगर को कितना उन्नत कर सकते हैं, अपने देश को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने में कितने सहायक हो सकते हैं! परन्तु खेद है कि हम अपने-अपने सम्प्रदाय की क्षुद्र या तुच्छ बातों में फँसे हुए हैं, और उसका इतना अभिमान करते हुए भी, देश के प्रति यथेष्ट कर्तव्य का पालन नहीं करते। जिस देश में काफी आदमी सच्चे धर्म को माननेवाले हों, वहाँ एक भी आदमी अन्न वस्त्रादि से वंचित नहीं

रह सकता। यदि हम अपने धर्म का गौरव बढ़ाना चाहते हैं तो हमें अपनी मातृभूमि को स्वावलम्बी और सुखी करने में लग जाना चाहिए।

विशेष वक्तव्य— हम सनातन धर्मी हैं तो क्या, आर्यसमाजी, ब्रह्मो, थियोसोफ़िस्ट, एवं हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई या मुसलमान हैं, तो क्या; भारत-माता हम सब के लिए पूज्य है। हम आशा करते हैं और इस विश्वास में जीते हैं कि इस समय तक के सब धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम भारतीय धर्म का विकास होगा। भारत-माता के विशाल मन्दिर में हम सब इकट्ठे होंगे, वहाँ जननी जन्मभूमि की शुद्ध उदार हृदय से पूजा करेंगे, उसकी स्तुति-प्रार्थना करेंगे, उसके प्राचीन गौरव का पाठ पढ़ेंगे, वर्तमान आवश्यकताएँ पूरी करने का संकल्प करेंगे, उसके आशामय भावी स्वरूप का चित्र अपने हृदय में बनायेंगे और उस सुयोग्य माता के सुयोग्य पुत्र होने के लिए जी-जान से उद्योग करेंगे। संसार खुशी-खुशी देखेगा कि जिस भारत ने प्राचीन काल में उपदेश दिया था, उसकी सन्तान फिर भी आदर्श धर्म पर चलने वाली, और दूसरों को रास्ता बतानेवाली है।

तीसरा अध्याय

सामाजिक जागृति

परमात्मा अपना ढङ्ग बदलता रहता है, जिससे ऐसा न हो कि एक अच्छी रीति रस्म पीछे जाकर संसार को बिगाड़ने वाली होजावे!

—टेनीसन

सामाजिक जागृति का अर्थ—भारत और पाश्चात्य देशों में समाज-संगठन का आधार जुदा-जुदा होने से, दोनों में सामाजिक जागृति का अभिप्राय भी अलग-अलग लिया जाता है। पश्चिम में समाज संगठन का मुख्य आधार अर्थ-नीति है। वहाँ सामाजिक जागृति

का अर्थ है, लोगों के, खासकर मज़दूरों के रहनसहन, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना, उनके लिए कारखानों सम्बन्धी नियमों में सुधार करना, उनकी जिन्दगी का बीमा करना, मकानों की व्यवस्था करना. मज़दूरी को उचित दर ठहराना या न्यूनतम वेतन निर्धारित करना आदि। परन्तु भारत में समाज-रचना प्रधानतया धर्म के आधार पर हुई है। यहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था को केन्द्रीय स्थान दिया गया है। इस लिए यहाँ सामाजिक जागृति के मुख्य विषय ये रहे हैं कि पारिवारिक जीवन ठीक हो, महिलाओं की स्थिति सुखमय हो, विवाह उचित समय पर किया जाय, विवाह-शादी या जन्म-मरण सम्बन्धी विविध कुरीतियों को हटाया जाय, जुदा-जुदा जातियों के आदमियों में आपस में सद्-व्यवहार हो।

हिन्दू समाज में सुधार — प्राचीन स्मृतिकारों, या शास्त्र बनाने-वालों ने 'युग-धर्म' (समाज के लिए देश-काल के अनुसार कर्तव्य पालन) की प्रणाली निश्चय की। इससे देश का सितारा चमकता रहा, और इसकी सुख-समृद्धि बनी रही। पिछली सदियों में हमने इस अटल प्राकृतिक नियम की अवहेलना की, उससे समाज में घुन लगचला। कन्या-बध तथा छोटे-छोटे बालक बालिकाओं का विवाह होने लगा, विधवाओं की संख्या भयंकर रूप से बढ़ती गई, सती-प्रथा से जहाँ-तहाँ हाहाकार मच गया, सामाजिक सिद्धांतों का विचार न रहकर, अंधविश्वास वाली रूढ़ियों का प्रचार होगया, अनेक आदमी दुराचारी, कपटी मुफ्त-खोर और नशेबाज़ होते हुए भी चूल्हे-चौके या ब्राह्मण-भोजन सम्बन्धी कुछ बाहरी बातों का पालन कर लेने से समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे। और, दूसरे आदमी शुद्ध, सात्विक संयमी और परोपकारी जीवन बिताते हुए भी सर्वसाधारण की नज़र में पतित या नीच गिने जाने लगे। सामाजिक जीवन से सचाई और ईमानदारी का मानो वहिष्कार, और आडम्बर या बनावटी बातों का स्वागत हो चला। भले आदमियों का निर्वाह कठिन होगया। कैसी शोचनीय स्थिति थी!

अब हम यह विचार करेंगे कि जागृति-काल में यहाँ की सामाजिक स्थिति या प्रथाओं में क्रमशः क्या सुधार हुआ। स्मरण रहे कि समाज-सुधार की कोई निश्चित योजना नहीं थी, जब किसी समाज-हितैषी को कोई कुप्रथा विशेष रूप से खटकी, उसने उसे हटाने का प्रयत्न किया; जिस प्रयत्न को दूसरे सज्जनों का सहयोग या अनुकूल वातावरण मिल गया, वह सफल होगया; यद्यपि असफल प्रयत्नों का भी समाज पर कुछ प्रभाव पड़े बिना न रहा।

कन्या-वध-निषेध—अज्ञान के कारण हिन्दू माता-पिता को लड़कियों का जन्म बहुत दुखदायी होने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि प्रायः लड़की के विवाह में अथवा दहेज में बहुत खर्च होता है तथा लड़की वाला वर पक्ष वालों से छोटा समझा जाता है। ऐसी स्थिति में अनेक आदमी अपनी सुकुमार बालिकाओं को बचपन में ही मार डालते थे। माताएँ भी इस क्रूर कार्य में भाग लेती थीं। इसके लिए विविध उपाय काम में लाए जाते थे। कन्या को दूध नहीं पिलाया जाता था, जिससे वह भूखी ही मर जाय, उसे चारपाई के पाए के नीचे दबा दिया जाता था, या अफीम आदि विष दे दिया जाता था। पीछे बुरा माना जाने पर भी, कन्या-बध का रिवाज, खासकर उच्च घरानों में, बना ही रहा। अंत में गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग (सन् १८२८-३५ ई०) के समय में यह कानून से बन्द किया गया। इस बात को सौ वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी कभी-कभी राजपूताने आदि में लुके-छिपे कन्या-बध होता ही रहा है। सुधारकों को चाहिए कि जनता में कन्याओं के प्रति उदार भावना जागृत करने का ध्यान रखें। जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र को प्यार करते हैं, वैसे ही पुत्री से प्रेम करना चाहिए; जो रीति-रस्में इसमें बाधक हों, उनका सुधार करना या उन्हें हटाना आवश्यक है।

सती-प्रथा बन्द होना—उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यहाँ अनेक विधवाएँ अपने पति के साथ ही चिता में जल जाया करती थीं।

कुछ स्त्रियां अपनी इच्छा से भी सती होती थीं, पर ज्यादहतर स्त्रियां इसलिए सती होती थीं कि अपने कुटुम्बियों के कटु व्ययवहार से हमेशा के लिए छुटकारा पा सकें। बात यह थी कि सती प्रथा को कुलीनता का लक्षण माना गया था। विधवा स्त्री के सगे सम्बन्धी विधवा का जीवित रहना अपने घराने के लिए कलंक समझते थे, और, उसे जबरदस्ती सती होने के लिए मजबूर करते थे। अस्तु, एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो लोकाचार की उपेक्षा करता हुआ, शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह बात सबको, सर्वसाधारण एवं सरकार को, भली भांति दिखला दे कि यह प्रथा अनावश्यक है। राजा राममोहन राय ने अपने लेखों तथा पुस्तकों द्वारा यह कार्य बड़े परिश्रम से किया। ब्रिटिश शासक इस प्रथा को हानिकर तो समझते थे; परन्तु इसे एक धार्मिक कृत्य मानने के कारण, उन्हें इसके विरुद्ध कोई कानूनी व्यवस्था करने का साहस नहीं होता था। आखिर, राजा राममोहन राय के आन्दोलन से प्रभावित होकर सन् १६२६ में भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड विलयम बेंटिंग ने इस कुप्रथा को कानून द्वारा बन्द कर दिया। पुराने विचार के कुछ हिन्दुओं ने इसका विरोध किया, पर अधिकांश जनता ने इस सुधार का स्वागत ही किया। अब यह प्रथा प्रायः उठ गई है, पर कभी-कभी कहीं सती होने का समाचार मिल जाता है।

विधवाओं का प्रश्न—ऊपर यह कहा गया है कि प्रायः विधवाओं के साथ उनके परिवार वाले कठोर व्यवहार करते थे। इसके अतिरिक्त विधवाओं को कई अपमानजनक बातें माननी पड़ती थीं—यथा सिर मुंडवाना, चूड़ियों और आभूषणों को उतार देना, शुभकार्यों और उत्सवों में भाग न लेना, और खाने-पहिनने आदि के विविध प्रतिबन्धों का पालन करना आदि। फिर हिन्दू विधवाओं को परिवार की सम्पति पर कोई कानूनी अधिकार नहीं होने से, उन्हें बहुधा अपने निर्वाह के लिए घर में दासी की तरह रहना पड़ता था। विशेषकर बाल-विधवाओं का जीवन बहुत कष्टमय था। उनके दुख दूर करने के

लिए खासकर पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बेचैन हो उठे। उनके निरंतर प्रयत्न से भारत-सरकार ने सन् १८५६ में विधवा-विवाह (पुनर्विवाह) जायज ठहरानेवाला कानून बनाया। पीछे कुछ देशी राज्यों में भी ऐसा कानून बना।

इन कानूनों से विधवा-विवाहों की संख्या विशेष नहीं बढ़ी। हाँ, कुछ रूढ़िवादियों को छोड़कर, अब विधवा-विवाह घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। पुनर्विवाह करनेवालों को अब जाति-बाहर नहीं किया जाता। स्मरण रहे कि निम्न जातियों में तो इन कानूनों के बनने से पहले भी विधवा विवाह जायज़ माना जाता था। अब उनमें एक भ्रान्त धारणा देखने में आती है। उनमें से जो लोग आधुनिक शिक्षा प्राप्त हैं, वे ऊँची जातिवालों की बराबरी करने की धुन में विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने लगे हैं। समाज में अनेक बार आदमी दूसरों की बुरी बातों की भी कहाँ तक नकल किया करते हैं, उसका यह चिन्ताजनक उदाहरण है। अस्तु, समाज-सुधार के इस आन्दोलन की प्रगति अभी बहुत धीमी है। सुधारकों का प्रयत्न जारी है। विधवाओं के आधुनिक सहायकों में श्री गंगाराम जी का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। आपने सन् १९१४ ई० में विधवा-विवाह-सहायक सभा, लाहौर, की स्थापना की; और, सभा के खर्च के लिए लाखों की सम्पति का दान किया। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों में इस सभा की शाखाएँ हैं। निस्सन्देह ऐसी संस्थाओं में काम करनेवाले आदमियों को साधु-स्वभाव और पवित्र जीवन वाला होना चाहिए।

नर्म दल के कुछ सुधारकों का मत है कि केवल ऐसी ही बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह हो सके, जिनका अपने पति से समागम न हुआ हो। बहुत से सज्जन ऐसे हैं, जो विधवाओं को इन्द्रिय-संयम का उपदेश देते हुए उनके लिए शिक्षित होने, अपनी आजीविका प्राप्त करने तथा समाज-सेवाओं में भाग लेने के योग्य होने की व्यवस्था चाहते हैं। विधवाओं का बिल्कुल न होने देना तो समाज के बश की बात नहीं;

हाँ, उनके बढ़ने के खास कारणों—बाल-विवाहादि कुप्रथाओं को रोकने से ये बहुत कुछ कम हो जायँगी।

श्री हरिविलास जी शारदा ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में यह प्रस्ताव पेस किया था कि जहाँ एक स्त्री का पति मृत्यु के समय संयुक्त-परिवार का सदस्य हो, वह विधवा बटवारे का मुकदमा दायर कर सके। जहाँ स्त्री का पति मृत्यु के समय संयुक्त परिवार का सदस्य न हो, विधवा उसका कुल धन लेले। विधवा स्त्री को लड़का गोद लेने का अधिकार हो। यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ। पीछे डा० देशमुख ने 'महिला-उत्तराधिकार बिल' जनता के सामने उपस्थित किया, जिसमें परिवार की जायदाद में से स्त्रियों को भी हिस्सा मिलने की व्यवस्था की गई। अब तो 'हिन्दू कोड' की बात है, इसके विषय में आगे लिखा जायगा।

बाल-विवाह—बाल-विबाह भी अशान्ति और अज्ञान-काल में जन्मी हुई कुरीति है। उस समय कुमारी लड़कियों के, विधर्मियों द्वारा, धर्म-भ्रष्ट किए जाने की आशंका रहती थी। शायद इसीलिए कुछ पंडितों ने बाल-विवाह को शास्त्रों के अनुसार आवश्यक ठहरा दिया। 'अष्ट वर्षा भवेद् गौरी' का सूत्र लोगों की जबान पर चढ़ गया। माता-पिता आठ वर्ष की ही नहीं, दुधमुँही बालिका के 'कन्यादान' का पुण्य लेने लग गए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि यदि वह बालिका युवावस्था में पहुँचते-पहुँचते अपने पति को खो बैठे तो क्या होगा। जब विधवा विवाह का प्रश्न ज़ोर पकड़ने लगा तो क़ानून द्वारा बाल-विवाहों पर रोक लगाने का विचार किया जाने लगा। पर सरकार इसके लिए तैयार नहीं हुई। इसके बजाय उसने कानून द्वारा सहवास आयु (जिसके प्राप्त होने पर ही पुरुष, पत्नी के साथ सहवास करे) निर्धारित करने का विचार किया। इस विषय में लोकमत जानने के लिए सर मोरोपन्त जोशी के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की गई। कमेटी ने जाँच के बाद यह सिफारिश की कि बाल-विवाह के दुष्परिणाम रोकने के लिए, सहवास-आयु निर्धारित करने से ही उद्देश्य सिद्ध न होगा, विवाह के लिए

न्यूनतम आयु निश्चित करना आवश्यक है और यह न केवल हिन्दुओं के लिए, वरन् भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों के लिए।

बाल विवाह बन्द करने की ओर पहले ब्रह्म-समाज ने जनता का ध्यान आकर्षित किया। पीछे आर्य समाज ने ब्रह्मचर्य पर जोर देते हुए यह प्रचार किया कि लड़के-लड़कियों का विवाह क्रमशः पच्चीस और सोलह वर्ष की आयु में होना चाहिए। उसके गुरुकुलों और कन्यामहाविद्यालयों ने इस सुधार को कार्य में परिणत किया।

क़ानून द्वारा बाल-विवाह बन्द करने के प्रयत्न में बड़ौदा रियासत अग्रसर रही। ब्रिटिश भारत में बाल-विवाह निषेध कानून १ अप्रैल १६३० से जारी हुआ है। इसे साधारण बोल-चाल में, इसके प्रस्तावक के नाम पर 'शारदा ऐक्ट' भी कहते हैं। इसके अनुसार अठारह वर्ष से कम आयु के लड़के, और चौदह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करना मना है। आरम्भ में कई वर्ष इस क़ानून से यथेष्ट लाभ नहीं हुआ पीछे कुछ संशोधन किए गए। अब भी जहाँ-तहाँ कुछ आदमी इस से बच निकलते हैं। हाँ, लोगों के विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। स्कूलों में केवल अविवाहित लड़के रखने का नियम भी इस विषय में अच्छा सहायक है।

बेमेल विवाह; कन्या-विक्रय और वर-विक्रय—कितने ही माता-पिता या संरक्षक अपनी-अपनी रुचि या स्वार्थ के अनुसार बर-बधु की जोड़ी मिला देते हैं। कुछ आदमी धन के लोभ में अपनी कन्या का बूढ़े या रोगी से अथवा ऐसे पुरुष से विवाह कर देते हैं जिसकी एक स्त्री पहले ही मौजूद होती है। इससे लड़की का सारा जीवन बहुत दुख में बीतता है। जगृति-काल में लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। हर जाति की सभाओं में इसकी निन्दा हुई। इससे अब ऐसी घटनाएँ कम होती हैं, आवश्यकता तो इस बात की है कि ऐसी घटना बिल्कुल ही न हो।

[अभी तक के कानून से जिस स्त्री का पति दूसरा विवाह करले या

कोई रखेल रख ले, उस स्त्री को अपने पति से खर्चा पाने का अधिकार तो था, परन्तु उसे यह सिद्ध करना होता था कि क्यों उसका अपने पति के साथ रहना उचित नहीं है। ऐसा सिद्ध न कर सकने की दशा में उसे या तो खर्चे से हाथ धोना पड़ता था, या अपने पति के साथ रहना होता था। अब इस कानून में ऐसा संशोधन कर दिया गया है कि ऐसी स्त्री अपने पति के साथ रहने से इनकार करदे और फिर भी खर्च लेने की हकदार हो।]

कुछ स्थानों में बर-विक्रय होता है; शिक्षित लड़के के लोभी माँ-बाप लड़की वाले से बहुत धन मांगते हैं। लड़की वाला बर की योग्यता का विचार करके बहुधा अपना घर बेच कर या कर्ज लेकर भी इनकी इच्छा पूरी करता है। विचारशील लड़कियाँ इस प्रकार अपना घर बरबाद होते देखना सहन नहीं कर सकतीं। स्नेहलता आदि कई कन्याओं के बलिदान ने समाज को इस ओर ध्यान देने के लिए मजबूर किया। सिंध में दहेज के भयंकर परिणामों को कानूनों द्वारा रोकने का प्रयत्न किया गया है। बड़ौदा मैसूर आदि कोई-कोई देशी राज्य समाज-सुधार के कानूनों के सम्बन्ध में भारतवर्ष के प्रान्तों में भी आगे रहे हैं।

अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय विचार—अब अधिकाधिक बर-बधु एक दूसरे के चुनाव में अपनी सम्मति का उपयोग कर रहे हैं। चुनाव का क्षेत्र भी धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। यद्यपि अभी तक एक उपजाति या बिरादरी के लड़के-लड़की का विवाह प्रायः उसी उपजाति के अंदर होता है, तथापि एक जाति या वर्ण के युवक का विवाह उस जाति या वर्ण भर की किसी भी युवती के साथ होने में अब पहले की सी बाधा नहीं रही है। अंतर्जातीय तथा अंतर्प्रांतीय विवाह के उदाहरण मिलते जा रहे हैं।

इन विवाहों के होने में जो क़ानूनी बाधाएँ थीं, उन्हें धीरे-धीरे दूर किया गया। सन् १८७२ ई० में 'स्पेशल मेरिज एक्ट' (विशेष विवाह क़ानून) बना; उसके द्वारा उन मनुष्यों के विवाह-सम्बन्ध को क़ानून की

दृष्टि से ठीक माना जाने लगा, जो ईसाई, यहूदी, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख या जैन किसी भी धर्म से सम्बन्ध नहीं रखते। अब (फरवरी १९४९) अन्तर्जातीय विवाह को वैधानिक ठहरानेवाला कानून पास हो गया है। अनेक नेताओं का मत है कि यदि हिन्दू मुसलमानों में आपसी विवाह शादी पहले होने लग गए होते तो सम्भवतः पाकिस्तान का निर्माण न होता। भारत को साम्प्रदायिक मतभेदों से बहुत नुकसान उठाना पड़ा है। अब देश स्वतन्त्र हो गया है, विवाह-शादियाँ भी स्वतन्त्रता-पूर्वक होनी चाहिएँ।

पर्दा-प्रथा — जागृति-काल में पर्दा-प्रथा में बहुत कमी हुई है। यहाँ पर्दा खासकर बिहार, संयुक्तप्रान्त, राजपूताना और सिंध आदि में रहा है। इन स्थानों में मुसलमानों के अलावा हिन्दुओं के ऊँचे माने जाने वाले खानदानों में विशेषतया शहर में रहनेवालों में, इसका बहुत जोर था। बाहर की तो बात ही क्या; घर में भी पर्दा होता था, औरतें औरतों तक से पर्दा करती थीं। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार कम होने तथा उनका स्वास्थ्य अपेक्षाकृत खराब रहने का एक मुख्य कारण पर्दा है। अस्तु, समाज-सुधार आन्दोलन, राष्ट्रीय जागृति और शिक्षा-प्रचार ने अब पर्दा-प्रथा को बहुत-कुछ हटा दिया है, तथापि जितनी यह बाकी रहगई है, वह भी बहुत है, और उसे शीघ्र हटाए जाने की आवश्यकता है।

महिला-संस्थाएँ—महिलाओं की स्थिति सुधारने के प्रयत्न विशेष रूप से सन् १९१० से आरम्भ हुए। सब से पहली संस्था 'भारत-स्त्री-महामंडल' थी। यह विशेष प्रगति न कर पाई। इसी समय श्रीमती रमाबाई रानाडे और श्री गोपालकृष्ण देवधर आदि के उद्योग से पूना में 'सेवा-सदन सोसायटी' स्थापित हुई। इसने महिलाओं की चिकित्सा और सेवा-सुश्रुषा का खूब काम किया; बम्बई और महाराष्ट्र में इसकी बहुत सी शाखाएँ कायम हुईं। अखिल भारतीय पैमाने पर महिलाओं का संगठन करने तथा उन में जागृति पैदा करने का विशेष प्रयत्न

६

सन् १९१७ में श्रीमती डारोथी जिनराजदास ने किया। आपने अड्यार (मदरास) में 'वीमेन्स इंडियन एसोसिएशन' (महिला संघ) की स्थापना की। यह संस्था शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार और राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति का कार्य कर रही है। इसकी शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं। सन् १९२५ में 'नेशनल कौंसिल-आफ-वीमेन' नामक संस्था संगठित हुई। इसने भी स्त्रियों की शिक्षा, और सामाजिक क्षेत्र में अच्छा काम किया।

महिलाओं में, सब से अधिक जागृति करनेवाली संस्था 'अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेन्स' का जन्म सन् १९२७ में हुआ, इसके अधिवेशन समय-समय पर होते रहे हैं, और उनसे महिलाओं की जागृति को बड़ी मदद मिली है। सामाजिक सुधार में इस संस्था ने बाल-विवाह का निषेध किया, और बहु-विवाह के खिलाफ आन्दोलन चलाया। इसने वेश्या-वृत्ति को हटाने की ओर भी ध्यान दिया। अस्पृश्यता-निवारण में इसने भरसक योग दिया। यह संस्था साम्प्रदायिकता और दलबन्दी से दूर रहकर सब भारतीय महिलाओं की एकता और संगठन की कोशिश करती रही। इसने कल-कारखानों और खानों में काम करनेवाली महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के उपाय किए और हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए व्यवस्थापक सभाओं को कई सामाजिक कानून बनाने की प्रेरणा की। श्रीमती सरोजनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, और विजयलक्ष्मी पंडित ने इसे बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया।

बंगाल में 'बंगाल वीमेन्स एसोसिएशन' ने स्त्रियों और लड़कियों के घृणित व्यापार को रोकने का सराहनीय प्रयत्न किया है। श्रीमती सरोज-नलिनी दत्त की स्मृति में महिला समिति भी अच्छा सेवा-कार्य कर रही है।

राष्ट्रीय अन्दोलन और महिलाएँ—भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। सन् १९१९ में

यहाँ होमरूल आन्दोलन जोरों पर था, उसकी संचालिका श्रीमती एनीविसेण्ट की नज़रबन्दी पर सारे महिला-समाज में हलचल मच गई! जगह-जगह स्त्रियों को बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं और इस तरह उनका संगठन बढ़ने लगा। सन् १६२० में तथा उसके बाद समय-समय पर आन्दोलन में भाग लेकर स्त्रियों ने पुलिस के तरह-तरह के अत्याचार सहे, लाठियाँ और गोलियाँ खाईं तथा जेल काटा, और हर दशा में अपनो वीरता का खूब परिचय दिया। उनके त्याग, कष्ट-सहन और सेवा का देश की सामाजिक व्यवस्था पर विलक्षण प्रभाव पड़ा है।

महिलाओं के राजनैतिक अधिकार—सन् १६१७ में जब भारत-मंत्री श्री मांटेग्यू यहाँ आए तो देश में मताधिकार आन्दोलन ने जोर पकड़ा। भारतोय महिला-संघ के प्रयत्न से श्रीमती सरोजनी नायडू के नेतृत्व में उसी वर्ष दिसम्बर में सब प्रान्तों की महिलाओं की ओर से एक प्रतिनिधि-मंडल उनसे मिला। डाक्टर एनीबिसेन्ट, श्रीमती मार्गरेट कजिन्स और श्रीमती डारथी जिनराजदास—इन तीन अंगरेज महिलाओं ने भारतोय महिलाओं को खूब सहायता की। सन् १६१८ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने महिलाओं को मताधिकार सम्बन्धी मांग को स्वीकार कर लिया। तथापि मांट-फोर्ड योजना (१६१८) में इसकी व्यवस्था नहीं की गई। आन्दोलन होता रहा। जब साउथ-बरो-कमेटी मताधिकार का विचार करनेलगी तो उसके सामने आठ सौ महिलाओं के हस्ताक्षर से स्त्री-मताधिकार की माँग के लिए आवेदन-पत्र उपस्थित किया गया, इसका भी कोई फल न निकला। पीछे ब्रिटिश पार्लिमेंट की दोनों सभाओं को संयुक्त कमेटी के सामने सर्वश्रीमती एनी-बिसेंट, सरोजनी नायडू तथा कुमारी हीराबाई टाटा ने गवाहियाँ दीं। आखिर, सुधार-योजना से यह गुंजायश रखी गई कि जिस प्रान्त की व्यवस्थापक सभा स्त्री-मताधिकार के पक्ष में निर्णय करदे, उस प्रान्त में उन्हें मताधिकार मिल जाय। तदनुसार सन् १६२१ में मद्रास में, १६२३ में संयुक्तप्रान्त में, १६२४ में आसाम में, १६२५ में बंगाल में १६२६ में

पंजाब में, और १९२९ में, बिहार और उड़ीसा में मताधिकार प्राप्त हुआ।

महिलाओं को व्यवस्थापक सभाओं में चुने जाने का अधिकार सन् १९२६ में मिला, जब कि मुडोमेन कमेटी ने इस बात की सिफारिश की। सब से पहले मद्रास की व्यवस्थापक सभा ने स्त्रियों को सदस्य बनाने का प्रस्ताव पास किया। पीछे क्रमशः सभी प्रान्तों की व्यवस्थापक सभाओं में यह बात स्वीकार कर ली गई। मद्रास प्रान्त ने तो डाक्टर मुथ्थू लक्ष्मी अम्मल को कौंसिल का उपाध्यक्ष पद प्रदान किया।

देशी राज्यों में सबसे प्रथम त्रावंकोर ने, और पीछे क्रमशः झालावाड़, मैसूर, कोचीन तथा राजकोट आदि ने स्त्रियों को मताधिकार दिया।

सन् १९३७-३९ में संयुक्तप्रांत में कांग्रेस-शासन के अवसर पर श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने मंत्री-पद प्राप्त किया। आप संसार भर की सर्वप्रथम महिला मंत्राणी थीं। भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने पर तो आपने विदेशी राजदूत का भी कार्य सम्पादन किया। इस प्रकार महिलाएँ विविध राजनैतिक अधिकार और पद प्राप्त करती रही हैं। देश की जनसंख्या को देखते हुए राजनैतिक पदों पर काम करनेवाली महिलाओं की संख्या अभी कुछ विशेष नहीं है, पर अब कोई पद उनकी पहुँच से बाहर नहीं रहा। भारत के नए विधान से उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं।

महिलाओं की उन्नति--महिलाओं में शिक्षा-प्रचार क्रमशः बढ़ता जा रहा है; और, शिक्षित और योग्य स्त्रियाँ अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने तथा उचित अधिकारों को पाने का उद्योग करने लगी हैं। अब उनकी जागृति का काम आसान और जल्दी होगा। मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे इस महान कार्य में उनकी मदद करें। हाँ; इस प्रसंग में, यह कह देना अनुचित न होगा कि महिलाओं को, और उनके हितैषी पुरुषों को, यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उन्नति की

दौड़ में, हमारी बहिनें मर्यादा को भंग न करें। कहीं-कहीं शिक्षित स्त्रियों का रहन-सहन बहुत आडम्बर वाला और खर्चीला हो गया है, घर-गृहस्थी का काम और बच्चों का पालन-पोषण उन्हें भार प्रतीत होता है। याद रहे कि इस बात की ज़रूरत कुछ कम नहीं है कि वे अपनी सन्तान —भावी नागरिकों—को सुयोग्य बनानेवाली हों। अस्तु, अब दूसरी बातों का विचार करें।

जाति-पाँति का भेद—पिछली शताब्दियों में जाति-उपजातियाँ इतनी छोटी-छोटी हो गईं कि एक-एक में सौ-सौ आदमियों से भी कम रह गए। बहुत से लोगों का खान-पान विवाह-सम्बन्ध आदि प्रायः अपनी-अपनी जाति में ही होता है। इस तरह, जन-साधारण के विचार और कार्य का क्षेत्र बहुत तंग हो गया। ब्रह्म समाज ने इस दोष को दूर करने के वास्ते हरेक जाति के मनुष्यों के लिए, अपने उपासना-मन्दिर का दरवाजा खोल दिया; बिना किसी भेद भाव के सब को आपस में मिलने-जुलने का अवसर दिया। आर्य समाज ने वर्ण-व्यवस्था को गुण-कर्म के अनुसार बतलाते हुए यह उपदेश दिया कि मनुस्मृति के आधार पर भी जन्म से सब लोग शूद्र होते हैं, बड़े होने पर जो जैसा आचार-व्यवहार करता है, वह वैसी ही जाति का कहलाए जाने का अधिकारी है। थियोसोफी ने भी जाति-बन्धनों को शिथिल करने में बड़ा योग दिया, विश्वव्यापी भ्रातृ-भाव की घोषणा की, तथा खान-पान सम्बन्धी मामलों में छुआछूत का विचार हटाया। इसी प्रकार जाति-पाँति तोड़क मंडल और अन्य संस्थाएँ भी जाति-पांति का भेद मिटाने का उद्योग कर रही हैं।

तथापि अभी तक यहाँ के राजपूत, जाट, मराठे, सिक्ख, ब्राह्मण, अग्रवाल, माहेश्वरी आदि प्रायः भारतीय राष्ट्र की दृष्टि से विचार न कर अपनी-अपनी जाति की दृष्टि से सोचते रहे हैं। खास चुनावों के अवसर पर हम अपनी क्षुद्र भावनाओं का निकृष्ट परिचय देते हैं। हरेक जाति वाले अपनी जाति के हित के खतरे में पड़ने की बात उठा कर देश के

व्यापक हितों की अवहेलना करते हैं। इस लिए बहुत आवश्यक है कि बिरादरी और जातिवादी संस्थाओं को कोई प्रोत्साहन न दिया जाय, इन्हें जल्दी ही समाप्त किया जाय।

दलित जातियों का उद्धार--जागृति-काल में हिंदू नेताओं का ध्यान अपने कई करोड़ 'नीच' मानेजानेवाले दलित भाइयों के उद्धार की ओर अवश्य ही जाता, पर इसके मुख्य कारण ईसाई और मुसलमान हैं। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए सबसे अच्छा क्षेत्र हिंदुओं की 'अछूत' तथा 'नीच' जातियों के लोगों को पाया। राम और कृष्ण के उपासक जब हज़रत ईसा और मोहम्मद की शरण में जाने लगे तो हिंदू धर्माधिकारियों की आंखें खुलीं, और वे धीरे-धीरे इन्हें अपनाने लगे। राजा राममोहनराय ने तर्क और युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया कि जन्म (जाति) के आधार पर 'ऊँच-नीच' का विचार करना अनुचित है, ब्रह्मज्ञान के कम या ज्यादह होने से ही श्रेणी-भेद माना जाना चाहिए। क्रमशः लोगों का ध्यान 'अछूतोद्धार' की ओर जाने लगा। अछूतों के बालकों की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने का काम सबसे पहले सन् १८७६ में बम्बई प्रार्थना-समाज ने, किया। इस संस्था की साप्ताहिक बैठकों और वार्षिक अधिवेशनों में अछूतों को सवर्णों के समान ही अधिकार था। पीछे आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसायटी ने भी इस क्षेत्र में खूब काम किया। इनकी संस्थाओं में हजारों अछूत बालक शिक्षा पाने लगे। सरकार की ओर से भी इस कार्य में योग दिया गया। इस शताब्दी के आरम्भ में बड़ौदा के महाराजा के नेतृत्व में अछूतों की दशा सुधारने का आन्दोलन शुरू हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन ने तो इसे अद्भुत ही सहायता दी।

हरिजन अन्दोलन--दलित या अस्पृश्य लोगों को 'हरिजन' नाम देनेवाले म० गाँधी हैं। आपने इनके उत्थान-कार्य को राष्ट्रीय महासभा के रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया। तब से अस्पृश्यता-निवारण में कुछ विशेष प्रगति हुई। हरिजनों को बहुत सी जगहों में

सार्वजनिक कुओं पर पानी भरने और मन्दिरों में दर्शन करने का अधिकार मिलने लगा। सन् १९३२ में जब शासन योजना बनाते समय, फूट डालकर शासन करने में कुशल, ब्रिटिश अधिकारी निर्वाचन के लिए अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने लगे तो महात्मा जी ने अपने अनशन से सरकार की इस कुचेष्टा को असफल कर दिया। उसी प्रसंग में बम्बई में २५ सितम्बर १९३२ को हिन्दुओं के प्रतिनिधियों की सभा हुई, उसके सभापति पं० मदनमोहन मालवीय थे। उसमें यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ कि अब से कोई भी आदमी, अपने जन्म से, अछूत नहीं समझा जायगा, और अब तक जो आदमी अछूत माना जाता था, उसके भी सार्वजनिक कुओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के व्यवहार के सम्बंध में वही अधिकार होंगे, जो दूसरे हिन्दुओं के हैं। अवसर मिलते ही इन अधिकारों के बारे में कानून बना दिया जायगा, और स्वराज्य-पार्लिमेंट के सबसे पहले किए जानेवाले कामों में यह भी एक काम होगा, यदि तब तक ये अधिकार क़ानून द्वारा स्वीकृत न हो चुके होंगे। उस सभा में यह भी निश्चय किया गया कि अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों को मन्दिर-प्रवेश-बन्दी आदि तमाम सामाजिक बाधाओं को शीघ्र हटाने के लिए, सभी उचित और शांतिमय उपायों का ग्रहण करना सब हिन्दू नेताओं का कर्तव्य होगा।

इसके बाद महात्मा गाँधी हरिजन आँदोलन की ओर पहले से भी अधिक ध्यान देते रहे, और सन् १९३३ ई० में जब आप फिर जेल में बन्द किए गए तो आपने अन्य बातों की चिन्ता न करते हुए भी हरिजन-कार्य के लिए कुछ सुविधाएँ चाहीं, और वे सुविधाएँ न मिलने पर आपने कठोर अनशन आरम्भ किया। अन्त में जब सरकार ने आपको निर्धारित अवधि से पहले रिहा कर दिया, तो महात्मा जी हरिजन आन्दोलन में लग गए। आपने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में पहले रेल और मोटर आदि से, और पीछे पैदल ही दौरा किया; जगह-जगह लोगों को विराट् सभाओं में भाषण दे देकर उनकी, हरिजनों के प्रति

सहानुभूति बढ़ाई तथा बहुत-सा चन्दा इकट्ठा किया। आपने हर जगह हरिजनों की बस्ती देखने और उसमें सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से आवश्यक सुधार करवाने की ओर विशेष ध्यान दिया; साथ ही आपने हरिजनों को शराबखोरी और मुर्दा मांस खाने आदि से बचने का उपदेश किया और उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने और उन्हें शिल्प-शिक्षा दिलवाने का भरसक इन्तजाम कराया।

इन सब कार्यों को अच्छे ढङ्ग से चलाने के लिए सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला की अध्यक्षता तथा श्री ठक्कर बापा के मंत्रित्व में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई। इसकी शाखाएँ तथा उपशाखाएँ जगह-जगह काम कर रही हैं। अंगरेजी, हिन्दी, गुजराती, और बंगला आदि में हरिजन सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की जाने लगीं। दिल्ली में श्री० वियोगी हरि की अध्यक्षता में हरिजन-निवास में हरिजन बालकों की शिक्षा का बढ़िया आयोजन किया गया।

हरिजनोद्धार करना काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक मुख्य अंग रहा है। सन् १६३७-३६ में जब आठ प्रान्तों में काँग्रेसी सरकारें रहीं तो इन प्रान्तों में हरिजनों की शिक्षा का भरसक प्रयत्न किया गया। उनके लिए कितनी ही छात्रवृत्तियाँ निर्धारित की गईं तथा उन्हें अन्य सुविधाएँ देने का भी ध्यान रखा गया।

हरिजनोद्धार में लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'लोक सेवक समिति', लाहौर, ने भी अच्छा काम किया है। देश के विविधि भागों में सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा हरिजन आश्रम आदि संचालित हैं।

यद्यपि अब भी समय-समय पर कुछ कट्टर हिंदुओं की ओर से हरिजनों के प्रति दुर्व्यवहार के उदाहरण मिलते हैं; धीरे-धीरे परिस्थिति सुधर रही है। स्मरण रहे कि हरिजन-समस्या का यथेष्ट समाधान उस समय होगा, जब हिन्दू समाज से जातिगत भेदभाव उठ जायगा; इसके विषय में पहले लिखा जा चुका है।

'आदिवासी'—भारतीय संघ की बत्तीस करोड़ जनता में ढाई

करोड़ से अधिक आदमी ऐसे हैं, जो अभी तक सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। इनके अनेक भेद हैं—गोंड, भील, कोल आदि। इनमें से कुछ अब मैदानों में आबसे हैं, और खेती-बाड़ी करने लगे हैं; शेष सब, जंगलों और पहाड़ों में रहते हैं। इनकी उदर-पूर्ति का मुख्य साधन शिकार, मछली पकड़ना, या जंगली फल-फूल आदि का उपयोग है। पिछले वर्षों में ये अधिकाधिक संख्या में ईसाई बनते रहे हैं, वैसे ये हिन्दू जाति के अंग रहे हैं। ये हिन्दू सभ्यता में जन्मे और पले हैं तथा इनके अनेक रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव आदि हिन्दू हैं। परन्तु क्योंकि अंगरेजी शासन के समय हिन्दू देश को स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे, अंगरेज सरकार ने इन बन-पर्वतीय जातियों को हिन्दुओं से पृथक् करने के लिए 'आदिवासी' नाम दिया। क्रमशः हिन्दुओं में भी इनका यही नाम चल पड़ा। सरकार ने इनकी निवास-भूमि को बहिष्कृत क्षेत्र बना कर रखा। इससे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को इनकी सेवा और उत्थान करने का अवसर नहीं मिला। सरकारी कर्मचारी, साहूकार और ज़मींदार इन का शोषण करते रहे।

कुछ समय से समाज के इस अंग की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। अभी तक खासकर मध्यप्रान्त में ही विशेष कार्य हुआ है। यहाँ गोंडों और भीलों की सेवा के लिए सहृदय अंगरेज श्री वेरियर एलविन ने श्री शामराव के साथ सन् १६३१ में कार्य आरम्भ किया था। उनका भूमि-जन-सेवा-मंडल अच्छा कार्य कर रहा है। उदयपुर में बनवासी सेवा संघ, डूंगरपुर में भील-सेवा-संघ, वामनिया (इन्दौर) में राजस्थान भील-सेवा-संघ, स्थापित हैं। बिहार, उड़ीसा आदि के कुछ स्थानों में अन्य संस्थाएँ काम कर रही हैं। आवश्यकता बहुत अधिक कार्य की है। जनता का समुचित सहयोग और आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

सामाजिक व्यवहार में फ़ज़ूलख़र्ची—हमने कुछ प्रधान आन्दोलनों का उल्लेख किया है, सामाजिक प्रश्न और भी बहुत से

शेष हैं। साधारण लोगों के लिए वेश्या-नृत्य और अश्लील गाने बन्द करना, और सामाजिक संस्कारों में फ़ज़ूलखर्ची रोकना ही बड़े भारी सुधार-कार्य बने हुए हैं। यहाँ फ़जूलखर्ची के प्रश्न पर विचार किया जाता है। बहुत से आदमी अपनी हैसियत का विचार न करके, बात-बात में—विवाह-शादी, जन्मोत्सव (खासकर पुत्र का), मुंडन, कन्छेदन, यज्ञोपवीत, मृत्यु-संस्कार, श्राद्ध या बर्षी आदि में—बेहद खर्च करते हैं। इससे इनकी आर्थिक दशा बहुत खराब हो जाती है। प्रायः ये अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए छल-कपट, जालसाजी, बेईमानी, चोरबाजारी, और रिश्वतखोरी करने लगते हैं।

इन बातों से बचने का प्रधान उपाय आत्म-बल है। यदि भाई-बिरादरी के अनुचित दबाव में न आकर, हम उतना ही खर्च करें, जितना कि हम आसानी से कर सकते हैं, तो बहुत से बुरे नतीजो से बचे रह सकते हैं। हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जन्म-मृत्यु और विवाह-शादी रोज़मर्रह की साधारण घटनाएँ हैं। इन अवसरों पर, आडम्बर और शान दिखाने के लिए हमें अपनी शक्ति, समय और द्रव्य का अपव्यय न करना चाहिए। हर्ष की बात है कि अब इस विषय के अच्छे-अच्छे उदाहरण मिलने लगे हैं। गत वर्षों की युद्ध-जन्य परिस्थिति, महँगाई, और राशनिंग आदि से भी आदमी सामाजिक कार्यों में किफायत करने को मजबूर हुए हैं। जो भाई स्वेच्छापूर्वक कुछ लोकनिन्दा सहते हुए भी मितव्ययिता करते हैं, वे धन्य हैं। अस्तु, आत्मबल की वृद्धि, आर्थिक विचार और शिक्षाप्रचार की उन्नति आदि से समाज-सुधार के कार्यों में बड़ी सहायता मिलने की आशा है।

संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली—अब संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली का विरोध होने लगा है। आरम्भ में इसका आधार त्याग और पारस्परिक सहयोग था। यह आदर्श बहुत लाभकारी रहा है। इससे परिवार के अनाथ व्यक्तियों की रक्षा तथा शिक्षा में बहुत सुविधा मिलती है, तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी निराश्रय और असहाय नहीं

होता। तथापि, अब इस युग में यह अनुभव किया जा रहा है कि इस प्रणाली से लोगों में स्वावलम्बन, साहस और विचार-स्वतंत्रता का काफी विकास नहीं होता। इसलिए यह प्रणाली टूट रही है। कुछ सज्जन चाहते हैं कि इस प्रणाली के रहते हुए भी स्वावलम्बन आदि का अभाव न होने पावे। इस प्रणाली में गुण-दोष दोनों ही हैं, परन्तु आधुनिक नवयुवकों का विचार-प्रवाह इसके विरुद्ध ही बढ़ता जा रहा है।

शास्त्रों का विचार–हिन्दू समाज की निर्बलता के निशान अब भी पद-पद पर नज़र आते हैं। इसका कारण यही है कि बहुत सी बातों में जब कोई सामाजिक विषय उपस्थित होता है, तो अक्सर आदमी देश-काल की दृष्टि से उसकी उपयोगिता का विचार न कर इस बात पर अटक जाते हैं कि शास्त्रों की इस विषय में क्या आज्ञा है। उदाहरण के तौर पर अठारहवीं सदी में, यहाँ समुद्र-यात्रा का बड़ा विरोध होने लगा। विदेश जाने वालों को यहाँ लौटने पर ब्रह्म-भोज (ब्राह्मणों को जिमाना), और तीर्थ-यात्रा करने तथा सामाजिक दंड (जुर्माना) देने आदि के रूप में प्रायश्चित करना होता था; नहीं तो वे जाति-बाहर कर दिए जाते थे। अब सुधारकों की कोशिश और नए विचारों के कारण विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में लोगों को ऐसी बाधा नहीं रही। तथापि कुछ आदमियों के पिछली सदी के विचार बने हुए हैं। हमें याद रखना चाहिए कि यदि किसी शास्त्र का कोई नियम प्राचीन काल की किसी विशेष स्थिति के लिए बहुत उत्तम था तो यह आवश्यक नहीं है कि अब भी उसका ठीक उसी प्रकार पालन किया जाना उपयोगी है। यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक स्मृतिकार भविष्य में आने वाली हर एक स्थिति के लिए यथेष्ट नियम बना सके! इसलिए हमारे समय में जो नवीन समस्याएँ उपस्थित हुई हैं; उनके हल करने के लिए शास्त्रों की आज्ञा की छानबीन करना ठीक नहीं। हमारे पूर्वजों ने बड़ी योग्यता से अपने समय की समस्याओं की मीमांसा की। अब वर्तमान समय हमारा है; और देश-काल के अनुसार हमें अपनी नवीन परिस्थिति के लिए उचित नियम

बनाने होंगे। यह तर्क अच्छा नहीं कि अमुक रीति हमारे बाप दादा ने बर्ती थी, इसलिए हमें भी उसका पालन करना चाहिए।

हिन्दू कोड बिल—इस समय हिन्दू कोड (नियम-संग्रह) सम्बन्धी कानून का मसविदा भारतीय व्यवस्थापक सभा के सामने उपस्थित है। पहले राय कमेटी ने इस विषय में देश में जगह-जगह गवाही ली थी। इस कोड का लक्ष्य यह है कि भारत में रहनेवाले सारे हिन्दुओं के लिए सामाजिक नियम एक ही तरह के हों, और जो पुराने नियम अब ज़रूरी या उपयोगी नहीं रहे हैं, उनमें सुधार कर दिया जाय। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कोड में कहा गया है कि पिता की सम्पत्ति में कन्या को भी पुत्र की तरह अधिकार मिलना चाहिए: हाँ कन्या को पुत्र का आधा हिस्सा मिले। स्त्री को, उत्तराधिकार में मिली हुई सम्पत्ति पर पूरा अधिकार रहे ; वह उसे उसी तरह दान कर सके या बेच सके जिस तरह कि पुरुष। मसविदे में सगोत्र विवाह और असवर्ण विवाह में, जो शास्त्रीय बाधाएँ हैं, उन्हें हटा कर इस तरह के विवाहों को भी वैध या जायज़ ठहराने का प्रस्ताव किया गया है। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि पूर्व विवाहित पत्नी या पति के रहते पुरुष या स्त्री दूसरा विवाह नहीं कर सकती। एक प्रस्ताव में वे कारण बताए गए हैं जिनके आधार पर पति या पत्नी के आवेदन पर अदालतें अपने फैसले की तारीख से वैध विवाह के भंग हो जाने की घोषणा कर सकती हैं। पति या पत्नी को असाध्य रोग या कोढ़ की बीमारी होने पर दोनों में से किसी के दूसरा धर्म ग्रहण करने पर, दोनों में से यदि कोई बिना कारण एक दूसरे को सात वर्ष तक छोड़ दे, तथा पति यदि किसी स्त्री को रखेल के रूप में ग्रहण करले, या स्त्री वेश्या का जीवन बिताने लगे तो पति या पत्नी को विवाह-विच्छेद के लिए मामला दायर करने का अधिकार होगा।

यह बिल समाज में मौलिक और व्यापक परिवर्तन करनेवाला है। पुरातनवादियों द्वारा इसका बहुत विरोध हुआ है। परन्तु कानून-मंत्री डा० भीमराज अम्बेडकर के शब्दों में यह बिल प्रगतिशील समाज के लिए

आवश्यक है। हमें पुराणपंथी विचारधारा को प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं बनने देना चाहिए।

हिन्दू महासभा, एक निस्तेज संस्था—हिन्दुओं सम्बन्धी बातें समाप्त करने से पहले हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में लिखना आवश्यक है। महासभा की स्थापना खासकर मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्था मुस्लिम लीग के जवाब में हुई। पंजाब में सन् १९०७ में 'पंजाब हिन्दू सभा' स्थापित की गई थी, जिसका उद्देश्य 'बिना किसी पक्ष को हानि पहुँचाए केवल हिन्दू हितों की रक्षा करना' बताया गया था। सन् १९१० से कुछ सज्जन अखिल भारतवर्षीय हिन्दू संस्था की अवश्यकता अनुभव करने लगे। आखिर सन् १९१५ के लगभग इसकी स्थापना की गई। यद्यपि इसका दृष्टिकोण मुसलिम लीग की अपेक्षा कहीं अधिक राष्ट्रीय रहा और इसने देश की अखंडता रखते हुए स्वाधीनता की माँग की, इसके सामने मुख्य कार्य मुसलमानों के विरोध करने का रहा, और क्योंकि इसे काँग्रेस मुसलमानों की तरफ झुकती हुई मालूम पड़ी, यह अपनी बहुत-कुछ शक्ति काँग्रेस का विरोध करने में लगाती रही। प्रगतिशील हिन्दुओं को धार्मिक या सामाजिक कार्य करने के लिए आर्यसमाज का क्षेत्र अनुकूल प्रतीत हुआ, और राजनैतिक कार्य करने वालों के लिए काँग्रेस का दरवाजा खुला हुआ था। यद्यपि हिन्दू महासभा को कभी-कभी, अच्छे-अच्छे सुधारकों का सभापति या कार्यकर्त्ता के रूप में, सहयोग प्राप्त हुआ, तथापि साधारणतया यह निस्तेज और निर्जीव सी रही है। जिस समय किसी प्रान्त या नगर में हिन्दू मुसलिम संघर्ष जोर पकड़ता, उस समय वहाँ हिन्दू महासभा में चहल-पहल हो जाती, हिन्दू संगठन की आवाज़ बुलन्द हो जाती। पीछे जहाँ वातावरण कुछ शान्त होता कोई समझौते की बात होती, महासभा ठंडी पड़ जाती।

इस संस्था के लिए आवश्यक कार्य—हिन्दू महासभा में अधिकतर राजा महाराजाओं, जागीरदारों, जमींदारों, और सेठ

साहूकारों का बोलबाला रहा है, जो अधिकांश में पुरातनवादी होते हैं। इस प्रकार यह संस्था हिन्दू समाज में क्रान्ति करनेवाली नहीं हुई। जाति-भेद-निवारण, अस्पृश्यता-निवारण, विधवा-विवाह आदि में इसने विशेष क्रियात्मक कदम नहीं उठाया। अब भी इस दिशा में बहुत काम करने को पड़ा है।

महासभा के राजनैतिक जीवन के विषय में हमें इतना ही कहना है कि आजादी केवल प्रस्ताव पास करने से नहीं मिला करती। यह आश्चर्यजनक है, और खेदजनक भी, कि जब भारतीय जवान और बूढ़े, पुरुष और स्त्रियाँ (जिनमें अधिकांश हिन्दू थे) विदेशी सत्ता के हटाने के प्रयत्न में लाठी-वर्षा और गोलियां की बौछार सह रहे थे, कैद और जुर्माने हो नहीं, फांसी का दण्ड पा रहे थे, उस समय हिन्दू नामधारी महासभा के नेता अपने घरों में आनन्द कर रहे थे।

म० गांधी की हत्या (३० जनवरी १६४८) के बाद महासभा की कार्यसमिति ने यह निर्णय किया था कि वह अपने राजनैतिक कार्यों को स्थगित रखेगी और हिन्दुओं को सामाजिक एवं सांस्कृतिक उन्नति का कार्य करेगी। परन्तु पीछे उसने उस निश्चय को बदल कर फिर से राजनीति के अखाड़े में उतरने का विचार किया है। हमारे पराधीनता-काल में अंगरेजों ने साम्प्रदायिक संस्थाओं को खूब प्रोत्साहन दिया। उनकी बन्दर-बाँट के समय अधिक-से-अधिक हिस्सा मिलने की आशा से कुछ हिन्दुओं को धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर अपने एक पृथक् राजनैतिक संगठन को भले ही कुछ आवश्यकता मालूम हुई हो; पर अब देश के स्वाधीन हो जाने पर उसकी राजनीति में किसी भी ऐसी संस्था की आवश्यकता नहीं है जो देश के किसी खास धर्म या सम्प्रदाय वालों तक सीमित हो। हिन्दू महासभा के अनुसार हिन्दू वे हैं, जो ऐसे धर्मों के अनुयायी हैं, जिनका उद्गम-स्थान भारत हो। इस प्रकार मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि इसके क्षेत्र के बाहर हैं। सिक्ख भी इससे अलग से ही हैं। हाल में महासभा ने १४ उद्देश्यों की घोषणा की

है, पर घोषणाओं के पीछे त्याग और साहस का बल होना चाहिए। अस्तु, हमारी समझ में महासभा को अपनी समस्त शक्ति हिन्दुओं के सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति में ही लगा देना चाहिए; यह कार्य कुछ कम महत्व का नहीं है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ--इसकी स्थापना नागपुर के डाक्टर केशवराम वालीराम हेडगवार द्वारा सन् १९२५ में हुई थी। सन् १९४० में आपके देहान्त के बाद श्री माधव सदाशिवराव गोलवेलकर इसके प्रमुख बने। सङ्घ के सदस्य आपको 'परम पूजनीय गुरु जी' कहते हैं। संघ का उद्देश्य 'हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म, और हिन्दू सभ्यता की रक्षा करते हुए प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति करना' बताया जाता है। सङ्घ का विधान, या नियमावली अथवा रिपोर्ट आदि प्रकाशित नहीं हुई। इस की सभाएँ गुप्त रूप से होती रहीं। सङ्घ ने भारत के तिरंगे राष्ट्रीय झंडे को नहीं माना, अपना अलग भगवा झंडा रखा। इस के अधिकांश उच्च कार्यकर्ता महाराष्ट्र ब्राह्मण रहे। सङ्घ अपने को राष्ट्रीय कहता था, परन्तु मुसलमान आदि इसके क्षेत्र से बाहर ही थे। मुसलिम लीग की तरह इसने 'दो-राष्ट्र' सिद्धान्त को अपनाया, इसके मतानुसार मुसलमान, ईसाई आदि भारत की राष्ट्रीयता के अधिकारी नहीं हैं, वे हिन्दू संस्कृति अपनाने के बाद ही इस महत्वपूर्ण अधिकार को प्राप्त कर सकते हैं।

सङ्घ की शाखाएँ देश भर में फैल गई थी। इनका दैनिक कार्यक्रम युवकों और विद्यार्थियों के लिए बड़ा चित्ताकर्षक था। हर रोज संध्या के समय सब सदस्य एक निश्चित स्थान पर एकत्र होते और विविध प्रकार के व्यायाम या सैनिक कवायद करते थे। दैनिक कार्यक्रम के अलावा गुरुपूर्णिमा, रक्षाबन्धन आदि त्यौहारों को विशेष रूप से मना कर सदस्यों की श्रद्धा-भक्ति बढ़ाई जाती थी।

म० गांधी की हत्या के बाद संघ पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया, उसकी अवहेलना करके उसने 'सत्याग्रह' किया। हजारों व्यक्ति जेल

गए, परन्तु उनमें अधिकांश स्कूलों के विद्यार्थी ही थे। आखिर, संघ के मुखय चालक श्री 'परम पूज्य गुरु जी' ने संघ द्वारा किए जानेवाले कानून-भंग को बिना शर्त बन्द कर देने का आदेश दे दिया। वास्तव में किसी स्वाधीन और जनतंत्रात्मक राज्य में, जिस जाति का बहुमत हो, और अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता हो, वहाँ गुप्त संगठन करना, सैनिक टोलियाँ बनाना, पृथक् झंडा रखना और 'दो राष्ट्र'-सिद्धान्त का प्रचार करना अनावश्यक ही नहीं, हानिकर है। यदि संघ वास्तव में समाज-सेवा करना चाहता है तो खुले आम करना चाहिए।

सिक्खों की बात--अब हम सिक्खों के बारे में विचार करते हैं। वीरों और सुधारकों का यह समुदाय हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलानेवाली कड़ी के रूप में उत्पन्न हुआ था। इसमें सामाजिक और धार्मिक सुधार की उत्कट भावना थी। परन्तु कुछ मुसलिम शासकों की ज्यादतियों और साम्प्रदायिकता ने सिक्खों को मुसलमान-विरोधी बना दिया। अस्तु, सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन के समय सिक्खों ने अपने गुरुद्वारों के महन्तों के विरुद्ध जोरदार संघर्ष किया था। महन्तों को सरकार का समर्थन प्राप्त था। हजारों सिक्खों ने कैद आदि सजाओं का स्वागत किया। आखिर, सन् १९२५ में पंजाब कौंसिल ने गुरुद्वारा-कानून पास किया, जिसके अनुसार सिक्खों के धार्मिक स्थान इनके हवाले कर दिए गए। इस समय जो सिक्ख सरकारी पक्ष में न मिल कर राष्ट्रीय पक्ष में रहे, उन्हें अकाली दल का कहा जाने लगा। अकाली दल के आदमी कांग्रेस के स्वाधीनता-आन्दोलन के सहायक और समर्थक रहे हैं। इनमें जो साम्प्रदायिकता की भावना थी, वह बहुत-कुछ मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के जवाब में थी; उसे अंगरेजों द्वारा प्रोत्साहन मिलता रहा। अंगरेजों ने सिक्खों को राजनीति में हिंदुओं से अलग रखा था। उनके भारत से चले जाने पर साधारणतया उनके एक अलग सम्प्रदाय के रूप में रहने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। परन्तु देश का विभाजन होने पर उन्हें पश्चिमी पंजाब को छोड़ कर इधर आने में भयंकर

शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक हानि सहनी पड़ी। कुछ लोग सोचने लगे कि जैसे मुसलिम लीग ने लड़-झगड़ कर पाकिस्तान ले लिया, हम भी अपना अलग राज्य क्यों न बना लें। सन् १६४८-४६ में अकाली दल और उसके नेता मास्टर तारासिंह ने ऐसी ही विचार-धारा के कारण सरकार से संघर्ष लिया। ये भूल गए कि मुसलमानों को पाकिस्तान खासकर अंगरेजी साम्राज्यवादी नीति के कारण मिला है। स्वाधीन भारत में अलग सिक्खस्तान आदि की बात नहीं चल सकती। हर्ष का विषय है कि अधिकांश सिक्ख इस बात को अच्छी तरह समझते हैं और वे मास्टर तारासिंह आदि के बहकाए में न आकर भारतीय समाज में हिल-मिल कर रहते और राष्ट्र की सुख समृद्धि में योग देते हैं।

अब हम दूसरे समाजों की जागृति का विचार करते हैं।

मुसलमानों में सामाजिक जागृति—मुसलमानों के सम्बन्ध में कुछ बातें पिछले अध्याय में लिखी जा चुकी हैं। इनमें जाति-पांति का विशेष भेद नहीं है; बराबरी, भाईचारे और एकता का भाव इनमें बहुत है, इनके रस्म-रिवाज भी सरल हैं, ज्यादह फ़ज़ूलखर्ची नहीं होती। तो भी कुछ सामाजिक सुधारों की ज़रूरत थी। इनके रहनसहन में कृत्रिमता या दिखावट बहुत है। मुसलिम स्त्रियाँ बहुत समय से पर्दे में रहती आई हैं, इससे इनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। शिक्षा में तो स्त्रियाँ क्या, पुरुष भी बहुत पिछड़े हुए थे। इसलिए इनमें सुधार होना और भी कठिन था।

इनकी जागृति में, अन्यान्य सज्जनों में सर सय्यद अहमदखां का अच्छा भाग रहा है। आपने इनकी विचार-संकीर्णता हटाने के लिए इनकी सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध खूब आन्दोलन किया। आपने इसी उद्देश्य से 'तहज़ीबुल इख़लाक' नाम का एक सुधारक मासिक पत्र भी निकाला। मुसलमान समाज को पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का परिचय कराने के लिए आपने शिक्षा-प्रचार का जो महान कार्य किया, उसका उल्लेख आगे प्रसंगानुसार किया

जायगा। उसके फल-स्वरूप मुसलमानों में अज्ञान की कमी होती गई। अब स्त्रियों में पर्दे का बन्धन पहले की अपेक्षा शिथिल है, उनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है, और कुछ तो अंगरेज़ी शिक्षा का भी स्वागत कर रही हैं। मुसलमान स्त्रियां स्वयं भी अपनी दशा उन्नत करने के लिए जहाँ-तहाँ सभा-सोसाइटियां करके तथा दूसरे उपायों द्वारा अपने वर्ग में जागृति का आन्दोलन कर रही हैं। तथापि अभी गति मन्द है, और पुराने विचार वालों की प्रधानता है।

कुछ मुस्लिम संस्थाएँ—मुसलमानों की सब से अधिक प्रकाश में आनेवाली संस्था मुस्लिम लीग है। राजनीति में यह कभी-कभी कांग्रेस से मेल खाती हुई भी मालूम हुई है, पर प्रायः इसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक रहा है। इसने अपने आपको भारत के समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधि घोषित किया; यही नहीं, इसने भारत के सब अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करने का भी दावा किया। कूटनीतिक अंगरेजों का इसे गुप्त या प्रकट समर्थन और प्रोत्साहन मिलता रहा। अन्त में इसकी भावना 'दो राष्ट्र' और 'पाकिस्तान' के नारे में प्रगट हुई, जिसके फल-स्वरूप अन्त में देश का विभाजन ही हो गया। इस संस्था के विषय में विशेष आगे 'राजनैतिक जागृति' शीर्षक अध्याय में लिखा जायगा।

'मोमिन कान्फ्रेंस' उन मुसलमानों की संस्था है, जो मुसलिम समाज में निम्न श्रेणी के माने जाते हैं, और जो पहले खासकर कपड़ा बुनने का काम करते थे। सन् १९१५ में कलकत्ता में 'जमैयतुल मोमिन' नाम की संस्था स्थापित हुई थी। इसने मुसलमानों में शिक्षा प्रचार का अच्छा काम किया। सन् १९२० में इस संस्था ने 'असहयोग आन्दोलन' में राष्ट्रीय दल का साथ दिया। इस प्रकार इसने देश की राजनीति में हितकर भाग लिया। स्वदेशी प्रचार से मुस्लिम जुलाहों को लाभ भी पहुँचा। संस्था का अखिल भारतीय संगठन सन् १९२७ में, कलकत्ता में ही हुआ, उस समय 'आल इंडिया मोमिन कान्फ्रेन्स' की स्थापना

हुई। सन् १९३७ में इसने स्पष्ट कह दिया कि मुस्लिम लीग हमारा प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह तो अमीरों, जमींदारों, और नवाबों आदि की संस्था है। इसने कांग्रेस को भारत भर की आजादी के लिए लड़नेवाली राजनैतिक संस्था माना, और मोमिन जमात के कार्यकर्ताओं को कांग्रेस में काम करने की इजाजत दी। स्मरण रहे कि विभाजन से पहले भारत में मोमिनों की संख्या तीन करोड़ से अधिक थी।

मुस्लिम समाज में एक वर्ग शिया मुसलमानों का है। इनकी संख्या कम है, पर इनमें पढ़े-लिखों तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अनुपात अधिक है। इनका सुन्नी मुसलमानों से बहुधा विरोध रहता है, और ये चुनाव में उनकी अपेक्षा हिन्दुओं पर अधिक विश्वास करते रहे हैं। इसलिए मताधिकार बढ़ने पर ये यह चाहने लगे कि हिन्दू-मुसलमान सबका सम्मिलित चुनाव हो, पृथक् निर्वाचन न हो; और यदि पृथक् चुनाव हो तो शिया-सुन्नियों का भी अलग-अलग चुनाव हो और शियाओं के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रहें। इस विषय का आन्दोलन करने के लिए सन् १९२९ में इनकी अलग राजनैतिक कान्फ्रेंस की स्थापना हुई, जिसका पहला अधिवेशन लखनऊ में सन् १९३० में हुआ। यह संस्था स्वदेशी, तथा राष्ट्रीयता की समर्थक, और पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करनेवाली रही है।

मुसलमानों में जिन लोगों ने अपना अधिकतर समय धार्मिक स्वाध्याय में लगाया है, वे हिन्दू पंडितों की तरह राजनीति से दूर नहीं रहे। मुस्लिम उलमा (विद्वान) राष्ट्रीय क्षेत्र में काफी अग्रसर रहे हैं। सन् १८५७ के स्वाधीनता-युद्ध में इन्होंने अंगरेजों के विरुद्ध खूब भाग लिया था। अंगरेजों के विजयी हो जाने के कारण सैकड़ों उलमाओं को फांसी, कालापानी और नजरबन्दी भोगनी पड़ी। तो भी इन्होंने अपनी गौरवमय आन नहीं छोड़ी। सन् १९१९ के राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इन्होंने 'जमैयतुल-उलमाए-हिन्द' के रूप में अपना संगटन किया। इस संस्था ने अंगरेज शासकों के रवैये के विरुद्ध कड़े प्रस्ताव किए और भारतीय स्वाधीनता का क्रियात्मक समर्थन किया। कभी-कभी

इसके कार्यों से कुछ साम्प्रदायिकता की गन्ध आई है, तथापि इसके प्रमुख सूत्रधारों ने प्रायः राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही रखा है।

ईसाइयों में सुधार—आरम्भ में भारतीय ईसाई थोड़े-से ही थे। वे यहाँ के शासकों के सहधर्मी होने के कारण अपने आपको ब्रिटिश साम्राज्य में भागीदार समझते और अंगरेज सरकार के कार्यों तथा नीति का समर्थन किया करते थे। पीछे, उनकी संख्या बढ़ी और वे अपनी गलती का अनुभव करके राष्ट्रीयता की ओर झुकते गए। उनकी कई संस्थाएँ हैं—अखिल भारतीय ईसाई कान्फ्रेंस, यंग मेन क्रिस्चियन एसोसिएशन (वाई० एम० सी० ए०), अ० भा० केथलिक कान्फ्रेंस आदि। ये संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में समाज-सुधार और शिक्षा-प्रचार करती रही हैं। ईसाइयों में, यद्यपि बहुतों के सामाजिक संस्कार अपने पूर्वज हिन्दुओं के समान ही हैं, परन्तु ये हानिकर रीति रस्मों को छोड़ने में, तथा सफाई और शिक्षा के विषय में अपनी श्रेणी के हिन्दुओं से आगे रहे हैं।

अपनी सामाजिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए ईसाइयों ने आवश्यक कानून बनवाने का भी प्रयत्न किया। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक यहाँ जो आदमी ईसाई बनते थे, उन्हें हिन्दू कानून या मुस्लिम कानून के अनुसार अपनी पहली जायदाद पर कोई अधिकार नहीं रहता था, और न वे अपने पूर्वजों की जायदाद के वारिस ही हो सकते थे। सन् १८५० में जाति-अयोग्यता-निवारण ('कास्ट डिसेबिलिटीज़ रिमूवल')-कानून बनाया गया, उससे यह व्यवस्था की गई कि कोई कानून भारतीय ईसाइयों के पूर्वजों की जायदाद पाने के मार्ग में बाधक न रहे। नए ईसाइयों को अपने नए समाज के लिए, शादी तलाक आदि के कानूनों की आवश्यकता हुई; धीरे-धीरे ये कानून भी बन गए। सन् १८७२ के विवाह-कानून तथा १८९२ के विवाह-प्रमाणिककरण (मेरिज वेलिडेशन)-कानून से ईसाइयों की शादी करने की असुविधा दूर हो गई।

अन्य जतियों में प्रकाश—हिन्दू और मुसलमानों के अतिरिक्त, जागृति का प्रकाश भारतवर्ष के दूसरे समाजों में भी हुआ है। पारसी अपनी रहनसहन, शिक्षा, सफ़ाई आदि में यहाँ के प्रवासी योरपियन लोगों से अच्छी टक्कर लेते रहे हैं; ये देशकाल की गति को परख कर उसके अनुसार उन्नति करने में बहुत बढ़े हुए हैं। इन्हें अपनी शिक्षा, योग्यता और व्यवहार-कुशलता का भरोसा रहा है। इन्होंने देश में अल्पसंख्यक होने के आधार पर सरकार से कभी किसी संरक्षण की माँग नहीं की।

समाज-सुधार के कुछ कानून बनने में सभी जातियों के सुधारकों ने योगदिया है। उदाहरण के लिए, जैसा पहले कहा गया है, बाल-विवाह की प्रथा हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों में भी थी। जब इसके विषय में कानून बनने की बात उठी, तो क्रमशः सभी सम्प्रदायों के सुधारवादियों ने अपनी सहमति प्रकट की, और अपने-अपने समाज में इस विषय का लोकमत बनाने का आन्दोलन किया। इसी का यह फल हुआ कि बाल-विवाह रोकने का कानून सभी सम्प्रदायों के लिए बना, न केवल हिन्दुओं के लिए।

अब हम कुछ ऐसे सामाजिक विषयों का विचार करते हैं, जिनका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध सभी जातियों या सभी धर्मों के अनुयाइयों से है।

सन्तान-निग्रह—आजकल बहुत से आदमियों के सामने यह विचार रहता है कि सन्तान बहुत ज्यादा न हो। कुछ लोग तो ऐसा विचार आर्थिक दृष्टि से करते हैं। वे सोचते हैं कि अधिक बच्चों के होने से उनके पालन-पोषण, शिक्षा और स्वास्थादि की व्यवस्था अच्छी तरह नहीं हो सकती, इसलिए सन्तान कम होनी चाहिए। कुछ आदमी सात्विक विचारों के कारण ही संयमी जीवन बिताना चाहते हैं। कुछ आदमी इस विचार से सन्तान की वृद्धि नहीं चाहते कि इससे उनके

सुख, स्वच्छन्दता आदि में बाधा होगी, उन्हें बालकों के लिए कुछ त्याग करना पड़ेगा। अब से कुछ समय पहले तक सन्तान बहुत न बढ़ने देने का एक ही उपाय समझा जाता था—इन्द्रिय-निग्रह, यानी अपनी काम-वासना को बश में रखना। लेकिन इस ज़माने में कृत्रिम साधनों के उपयोग का विचार बढ़ता जा रहा है। इसके विषय में लोगों को बड़ी आशंका है। जनता की वृद्धि बहुत अधिक न होने देने के लिए हम स्त्री-पुरुषों का संयमी जीवन बिताना ही उचित समझते हैं।

स्वास्थ्य; खानपान और रहनसहन—आजकल स्वास्थ्य-सुधार की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है, और स्वास्थ्य के साधन भी बढ़ते जा रहे हैं। यह होते हुए भी भारतवासियों का स्वास्थ्य तथा औसत उम्र सन्तोषप्रद नहीं है। रोगियों की संख्या भयंकर है, मृत्यु-संख्या भी चिन्तनीय है। साधारण स्वस्थ दिखाई देनेवाले युवकों और युवतियों का भी कमजोर होना खेदजनक है। इसका एक मुख्य कारण जनसाधारण की गरीबी है। इसके अलावा आजकल विलासिता, शौकीनी, बाहरी दिखावा और आरामतलबी बढ़ रही है। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से ज्यादहतर आदमी अपने खाने-कपड़े या रहन-सहन में उसकी उपयोगिता का इतना विचार नहीं करते, जितना वे यह सोचते हैं कि समाज में, दूसरे आदमियों की नज़रों में यह कैसा रहेगा। हम जीभ के स्वाद के लिए खट्टी, मीठी, चटपटी चीजें खाते हैं जो हमारे शरीर को नुकसान पहुँचाती हैं; कपड़ा भी महीन, मुलायम, बढ़िया, चटकीला-भड़कीला पहनते हैं।

नशीली चीज़ों का इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। पहले आदमी हुक्का पिया करते थे; तब ज्यादहतर बड़े-बूढ़े ही तमाखू का सेवन करते थे। वे भी सिर्फ घर या दूकान आदि पर। अब बीड़ी सिग्रेट हरदम आदमियों की जेब में बने रहते हैं; रास्ता चलते, अखबार पढ़ते, लेख लिखते, या मेहनत मजदूरी करते, जब चाहे इनका सेवन हो सकता है। अनेक छोटे-छोटे लड़के भी एक-एक दिन में कई-कई बीड़ियाँ फूँक देते हैं;

(साथ में दियासलाई का खर्च रहा सो अलग)। अब शराब की बात लीजिए। पहले, हिन्दू भी, और मुसलमान भी इससे सख्त परहेज़ करते थे। पर अब स्वतन्त्रता का नहीं, कुछ हद तक स्वच्छन्दता का भी युग है; आदमी धार्मिक आदेशों का कठोर बन्धन मानने को उतने तैयार नहीं हैं। योरपवालों के संसर्ग का हमारे समाज पर, एक असर यह पड़ा कि यहाँ शराब की खपत बहुत बढ़ चली। भारत के स्वाधीन होने से पहले काँग्रेस के शासन-काल (१९३७-३९) को छोड़कर प्रान्तीय सरकारों ने इसे रोकने की खास कोशिश नहीं की। अब सन् १९४७ से इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। इधर हमारे देखते-देखते चाय का भी प्रचार बहुत बढ़ गया है। बहुत-से जानकारों का मत है, कि चाय मनुष्य की शक्ति उसी प्रकार बढ़ाती है, जैसे, दुर्बल घोड़े की शक्ति को हंटर या चाबुक। इसलिए इसके प्रचार को रोकने की बहुत आवश्यकता है। हमारा खान-पान और रहनसहन सादा और स्वास्थ्य बढ़ानेवाला होना चाहिए।

भारतीय समाज की कमज़ोर कड़ी—किसी भी विचार-शील आदमी को यह बात अजीब और दुखदाई मालूम होगी कि जनता के इतने विशाल होते हुए भी, यह देश ऐसा अवनत है। बात यह है कि भारतीय समाज की विविध कड़ियों में से कई-एक बहुत ही कमज़ोर हैं। महिलाओं, अछूतों (हरिजनों) और भिखारियों के बारे में पहले कहा जा चुका है। 'जरायमपेशा' और वेश्याओं की ओर भी बहुत ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

किसी जाति को 'जरायम-पेशा' क़रार देना सर्वथा अनुचित है। लोगों का अपराधी होना, बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर निर्भर है, और, सामाजिक वातावरण का उन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस विषय में हमने विस्तार-पूर्वक अपनी 'अपराध-चिकित्सा' पुस्तक में लिखा है। यहाँ, यही कहना है कि यदि अपराधियों के साथ कठोरता का व्यवहार न करके, उनके सुधार का प्रयत्न किया जाय तो इसमें बहुत

सफलता मिल सकती है। कई स्थानों पर किए गए प्रयोगों के अनुभव से, यह सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू भी अच्छी परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। स्वतंत्र भारत इस दिशा में प्रयत्नशील है।

अब वेश्याओं की बात। उनसे घृणा करके या उनकी उपेक्षा करके, जागृत समाज उनकी ओर से निश्चिन्त नहीं रह सकता। इनके विषय में कुछ विस्तार-पूर्वक विचार हमारी 'विश्व वेदना' पुस्तक में किया गया है। पतित बहनों में से, अधिकांश अपना धंधा, आर्थिक या सामाजिक मजबूरी से करती हैं। यदि उनके योग्य, आजीविका के मार्ग निकाले जायँ, तो इनमें से बहुत-सी अपनी सेवा और योग्यता से देश का बड़ा हित कर सकती हैं। कितनी ही वेश्याएं गृहस्थ-जीवन बिताना चाहती हैं। ज़रूरत है कि ऐसे आदमी काफ़ी संख्या में मिलें, जो इनसे विवाह-सम्बन्ध करें, चाहे इसके लिए उन्हें कुछ लोक-निन्दा ही सहनी पड़े। गतवर्षों में ऐसे कुछ उदाहरण मिले हैं, उनके बढ़ने की बहुत आवश्यकता है। वेश्याओं में से, जो अपने पतित व्यवसाय को छोड़ चुकी हैं, और गृहस्थ जीवन में भी आना नहीं चाहतीं, वे स्वयं सेविकाएँ बन कर आगे बढ़ें और अपनी अन्य वेश्या बहिनों को सुमार्ग पर लाने में प्रयत्नशील हों।

समाज-सुधार और सरकारी सहयोग—बहुत से आदमी चाहते हैं कि प्रत्येक सुधार के वास्ते सरकारी कानून बन जाना चाहिए। ऐसी परावलम्बी भावना ठीक नहीं। कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जो सरकारी क़ानून के द्वारा ही अच्छी तरह अमल में आ सकती हैं, परन्तु वे बातें बहुत थोड़ी हैं। समाज-सुधार का अधिकांश कार्य हमारे ही करने का है; उसके लिए आवश्यकता है, लोकमत तैयार करने की। उसके बिना, सरकार भी समाज-सुधार में सफल नहीं होती। सच्ची आत्माएँ अपने उदाहरण से और लोकमत तैयार करके समाज का अच्छी तरह संस्कार कर सकती हैं।

सेवा-भाव—हर्ष का विषय है कि देश में स्वयंसेवकों की तथा सेवा-भाव से काम करनेवाले अन्य सज्जनों की क्रमशः वृद्धि होती जा रही है। दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी तथा मेले-तमाशों के अवसर पर सेवा-समितियां और बालचर (स्काउट्स)-दल महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। कितने ही अवसरों पर स्वयं अपनी जान जोखम में डालकर दूसरों को संकट से बचाने, लावारिस मुर्दों को उठाने और उनका यथेष्ट संस्कार करने में इन्होंने अपनी उदारता का अच्छा परिचय दिया है। जैसे बने, जहां बने, सेवा करना इनका उद्देश्य है। ये हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच या अपने-पराए का भेद नहीं जानते; जाति विशेष और प्रान्त विशेष का पक्ष नहीं करते; इनका सेवा-कार्य हर जगह होता है और सामाजिक जागृति में बड़ी मदद देता है।

सेवा समितियों और बालचरों के अलावा, देश में जगह-जगह कई दूसरी संस्थाएँ भी जनता की सेवा और सहायता करने का कार्य कर रही हैं—जैसे भारत सेवक समिति (सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी) पूना; समाज सेवा संघ (सोशल सर्विस लीग), बम्बई; जीवदया संघ, बम्बई; दक्षिण शिक्षा समिति (डेकन एज्यूकेशन सोसायटी) पूना; लोक सेवक समिति (सर्वेंट्स आफ दि पीपल्स सोसायटी), लाहौर; अखिल भारतवर्षीय ग्रामोद्योग संघ, और चर्खा संघ, वर्धा; आदि।

समाज-संगठन; सर्वोदय समाज—हमने ऊपर समाज-सुधार सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर विचार किया है। समाज की हरेक कुरीति और कमजोरी को हटाने की जरूरत है। इसके साथ ही समाज के सब अंगों को आपस में मिलकर सामूहिक कार्यों में सहयोग देना चाहिए। यहाँ खासकर हिन्दुओं में कितनी ही जाति-उपजातियाँ हैं, और हरेक जाति-उपजाति प्रायः अपने-अपने ही स्वार्थ को सिद्ध करने में लगी रहती हैं। इसके अलावा हिन्दुओं और मुसलमानों में आपस में काफी मेल नहीं है, दूसरी जातियों को भी यही बात है; कहीं धर्म के आधार पर, और कहीं सामाजिक रहनसहन या संस्कृति आदि के नाम पर, अलग-

अलग संस्थाएँ हैं, जिनका एक-दूसरे से ईर्षा-द्वेष चला जाता है। इसे दूर करने के लिए जहाँ-तहाँ कुछ कोशिश हो रही है। भारतवर्ष की विविध जातियों और समूहों में मेलजोल बढ़ाने के लिए कुछ समय से इलाहाबाद में 'हिन्दुस्तानी कल्चर सोसायटी' कायम है। इसका उद्देश्य ऐसी कल्चर (संस्कृति) को बढ़ाना, फैलाना और प्रचार करना है, जिसमें बिना भेद-भाव सब हिन्दुस्तानी शामिल हों। इसके ओर से 'नया हिन्द' नाम का एक मासिक पत्र हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित होता है।

मार्च १९४८ से वर्धा में 'सर्वोदय समाज' की स्थापना हुई है। उसका उद्देश्य है, सत्य व अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना, जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले और जिससे समूह और व्यक्ति दोनों को पूरा-पूरा विकास करने का पूरा अवसर मिले। सर्वोदय समाज के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आगे लिखे साधन काम में लाए जा रहे हैं—सांप्रदायिक एकता, जाति-भेद-निवारण, अस्पृश्यता-निवारण, नशाबन्दी, गांव की सफाई, नई तालीम, स्त्रियों के लिए पुरुषों को बराबरी के हक और समाज में स्त्री पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा, आरोग्य और स्वच्छता, देश की भाषाओं का विकास, प्रांतीय संकीर्णता का विनाश, आर्थिक समानता, खेती की तरक्की, मजदूर-सङ्गठन, आदिम जातियों की सेवा, विद्यार्थी-सङ्गठन, गो-सेवा, प्राकृतिक चिकित्सा आदि। आशा है, प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता, शक्ति और परिस्थिति के अनुसार सर्वोदय समाज के इस कार्यक्रम को अपनाकर देशोन्नति में यथेष्ट भाग लेगा।

चौथा अध्याय

आर्थिक जागृति

(१) खेती

"खेती एक सार्वजनिक सेवा का काम है। इससे किसान अपनी रोजी ही पैदा नहीं करता, बल्कि राष्ट्रीय जीवन की रक्षा भी करता है।"

खेती सम्बन्धी जागृति का उद्देश्य यह होता है कि खेत, बाग़, जंगल, नदी, समुद्र और खान आदि की पैदावार काफी और बढ़िया हो; देश में उनकी किसी तरह की कमी न रहे, किसानों का जीवन सुखी हो, और वे अपना विकास करते हुए नागरिक और राष्ट्रीय उन्नति में अच्छा हिस्सा ले सकें।

किसानों की पूर्वावस्था—प्राचीन काल में यहाँ किसानों की हालत बहुत अच्छी थी। उनके सुखी और सन्तुष्ट होने का इससे अच्छा क्या प्रमाण मिल सकता है कि यहाँ खेती का काम दूसरे सब पेशों से अच्छा समझा जाता था। 'उत्तम खेती मध्यम व्यापार, निखिद चाकरी, भीख नकार', उसी समय की कहावत है। अन्नदाता किसानों का, राजा-प्रजा सब में आदर मान था। वे भूमि से होनेवाली आमदनी का एक निश्चित हिस्सा राज्य को देदेते और बेफिक्री का जीवन बिताते थे। राजा को दिया जानेवाला यह कर जुदा-जुदा समय में आमदनी के दसवें से लेकर छठे हिस्से तक रहा। कुछ दशाओं में उपज का चौथाई या तिहाई भी दिया गया। याद रहे कि उस समय शिक्षा और न्याय की फीस आदि असंख्य करों की भरमार न थी; ज़मीन से होनेवाली आय ही सरकारी आमदनी का मुख्य भाग थी।

मुस्लिम शासन काल में भी यही बात रही; पर अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के समय से स्थिति बदल गई; कारण, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' इस देश को अपनी ज़मींदारी की तरह समझने लगी और जितनी ज्यादा-से-ज्यादा मालगुज़ारी यहाँ से वसूल हो सकी, उतनी वसूल करने में उसने कोई कसर बाकी न छोड़ी। जैसी कठोरता, कड़ाई और निर्दयता से उसने काम लिया, उसका जिक्र सरकारी कागज़ों में मौजूद है। सर विलियम डिग्बी महोदय जैसे सहृदय अंगरेजों ने अपने ग्रन्थों में उसका साफ़ और खुलासा बयान किया है।

कृषि-जागृति की तीन अवस्थाएँ—कृषि सम्बन्धी जागृति पर अच्छी तरह विचार करने के लिए हमें उसकी तीन अवस्थाओं को ध्यान में रखना उचित होगा:—(१) अंगरेज सरकार ने जो सुधार किए, वे विशेषतया अपनी सुविधा या आय-वृद्धि के लिए किए; अथवा ब्रिटिश हित के लिए किए; भारतीय जनता की दशा सुधारने का उसका लक्ष्य न था, (२) अंगरेज सरकार ने जनता की दशा सुधारने की कोशिश की, पर उसी सीमा तक, जहाँ तक उसको (सरकार को) अपनी हानि न हो; इसलिए जो सुधार हुए, वे बहुत महत्व के न थे। (३) सन् १६३७-३६ में प्रान्तों की सरकारों ने जो सुधार किए, इनमें मुख्य लक्ष्य जनता की दशा सुधारना था। सन् १६३६ में कांग्रेस शासन न रहने पर यह सुधार-कार्य रुक गया, और कुछ बातों में हालत बहुत खराब हो गई। लेकिन यह दशा रहने वाली नहीं थी। आखिर, सन् १६४७ में स्वराज्य प्राप्त होने पर यहाँ जागृति-कार्य आगे बढ़ा और खूब बढ़ा। इन तीन अवस्थाओं का क्रमशः विचार किया जायगा। पहले बंगाल के स्थायी प्रबन्ध आदि की बात लें, जिसका सम्बन्ध पहली अवस्था से है।

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त—ईष्ट इंडिया कम्पनी की मालगुज़ारी सम्बन्धी नीति (अनीति ?) का जिक्र ऊपर किया जा चुका है; उसका फल बहुत ही बुरा हुआ। मालगुज़ारी वसूल न होने लगी; ज़मीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखे मरने लगे। तब कम्पनी

के अधिकारियों की आँखें खुलीं, और, उनके खयाल में यह बात आई कि यह स्थिति अच्छी नहीं; जब ज़मीन जोती ही न जायगी, जब प्रजा भूखों मर जायगी, तब हम मालगुज़ारी लेंगे किससे। अंत में तत्कालीन वायसराय लार्ड कार्नवालिस को विश्वास होगया कि जब तक ज़मीदारों को यह निश्चय न हो कि उनकी ज़मीन से होनेवाले फायदे का कुछ हिस्सा उन्हें भी मिलेगा, तब तक वे ज़मीन का सुधार न करेंगे और खेती कराने में भी उत्साह न दिखावेंगे। इसलिए उन्होंने सन् १७९३ में बंगाल में मालगुज़ारी के बारे में स्थायी प्रबन्ध (इस्तमरारी बन्दोबस्त) कर दिया। यह क़ानून बन गया कि ज़मीन की इतनी आय सरकार को मिले, और शेष ज़मींदारों के पास रहे। सरकार का हिस्सा उस समय की आय का ९० फ़ी सदी था; यह बहुत अधिक था। संतोष की बात यही थी कि भविष्य में ज़मीन के सुधार और उन्नति से आय बढ़ जाने पर, सरकार को निश्चित रक़म से अधिक नहीं मिलना था। जो हो, खेती की उन्नति के लिए अच्छी कोशिश की गई। इससे ज़मींदारों की दशा क्रमशः सुधरने लगी, और वे दूसरे प्रान्तवालों के मुकाबले अधिक सुखी होने लगे। स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था बंगाल के अतिरिक्त, बिहार के ५/६ भाग में और संयुक्तप्रान्त के दसवें भाग में हुई। अन्य प्रान्तों में बन्दोबस्त अस्थायी रहा।

दूसरे प्रान्तों की बात--पहले कम्पनी का विचार था कि भारतवर्ष के दूसरे प्रान्तों में भी स्थायी बन्दोबस्त ही किया जाय। परन्तु जब उसने स्वार्थ-भाव से यह सोचा कि ज़मीन की उपज दिनोंदिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ मालगुज़ारी भी बढ़ाई जा सकती है, तो उसकी नीति बदल गई। उत्तरी हिन्दुस्तान में यह निश्चय किया गया कि खेती का खर्च निकाल कर ज़मीन से जो आमदनी सरकार द्वारा कूती जाय, उसमें से ८३ फीसदी सरकार को दी जाय, और शेष १७ फी सदी काश्तकार या ज़मींदार को मिले; इस १७ फीसदी में ही ज़मीन जोतने-बोने आदि का सब फल समझा जाय! जब प्रजा इतनी ज्यादा मालगुजारी

देने में असमर्थ रही तब सरकार ने अपना हिस्सा ८३ की जगह ७५ फ़ी सदी नियत किया। जब इसके भी वसूल होने में कठिनाई हुई, तब इसे घटाकर ६६ कर दिया गया परन्तु इससे भी काम न चलता देख, सरकार को लाचार होकर सन् १८५५ ई० में अपना हिस्सा ५० फ़ी सदी ठहराना पड़ा। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के दक्षिणी प्रान्तों में कर दिया गया। इस प्रकार बंगाल, बिहार को छोड़कर सब कहीं सरकार ने अस्थायी बन्दोबस्त रखा—(१) संयुक्तप्रान्त में मालगुजारी ३० वर्ष, और पंजाब तथा मध्यप्रान्त में २० वर्ष के लिए जमींदारों या ताल्लुकेदारों से निश्चित होने लगी। (२) भारत के शेष भागों में रैयतवारी बन्दोबस्त रहा; इनमें सरकार ने सीधा काश्तकारों से सम्बन्ध रखा। इनमें से बम्बई और मदरास में तीस-तीस वर्ष में, और अन्य स्थानों में इससे कम समय में नया बन्दोबस्त होता है।

बेहद मालगुज़ारी—कम्पनी के ज़माने में मालगुज़ारी के सम्बन्ध में भूलें हुई थीं, उन्हें दुरुस्त करने के इरादे से कहीं-कहीं मालगुज़ारी घटाई भी गई। पर, १८५८ ई० से कम्पनी के राज्य के बाद पार्लिमेंट के शासन में यह बात न हुई। सरकार अपना खर्च बढ़ाती गई, इसलिए मालगुज़ारी से होनेवाली आमदनी को घटाना उसके लिए असम्भव हो गया। और सुनिए, सरकार ने धीरे-धीरे पटवारी, चौकीदार, पुलिस, स्कूल, सड़क, शफ़ाख़ाने आदि के नए कर ज़मीन पर लगा दिए, और उन्हें भी मालगुजारी के साथ वसूल करने लगी। इस प्रकार मालगुज़ारी की दर कहीं-कहीं ५६ फ़ी सदी हो गई, कहीं ५८ और कहीं ६० !!! मध्यप्रान्त के सम्बन्ध में तो सन् १९०७ में भारत-मन्त्री मार्ले साहब ने स्वीकार किया था कि कुछ जमीन ऐसी है जिसकी मालगुज़ारी ६५ फ़ी सदी के हिसाब से ली जाती है। फिर, कितने ही अधिकारी मालगुजारी के लिए खेती की असली आमदनी का बहुत ज्यादा अन्दाज कर लेते; जिन खेतों से केवल खेती का ख़र्च ही निकलता (जिसमें किसान की मज़दूरी भी शामिल है), और, उसके

अलावा और कुछ भी आय नहीं होती, उस पर भी अनेक दशाओं में सरकार मालगुजारी ले लेती थी। फिर, सरकार जो मालगुज़ारी लेती थी, वह अनाज के रूप में नहीं, वरन् रुपए के रूप में लेती थी। उसकी दर पैदावार का परता लगाकर नियत की जाती थी। यह परता बन्दोबस्त के साल का लगाया हुआ होता था। पानी न बरसने, अधिक बरसने, अथवा बाढ़ या भूकम्प आदि से फसल ख़राब हो जाने पर जब पैदावार कम हो जाती या किसी कारण से सस्ती हो जाती, तब भी सरकारी मालगुजारी प्रायः उतनी ही देनी होती थी। यह सच है कि कभी-कभी सरकार 'दया' करके मालगुजारी का कुछ अंश छोड़ भी देती थी, परन्तु वह छूट नुक़सान के हिसाब से बहुधा बहुत कम होती थी। इस प्रकार किसानों की दशा बहुत चिन्तनीय ही रही।

कृषि-विभाग की स्थापना; इंगलैंड की आवश्यकताओं की पूर्ति—सरकार ने बंगाल और उड़ीसा के अकाल के कारण यहाँ सन् १८६६ ई० में भारतीय कृषि-विभाग की स्थापना की; किन्तु उसका काम तीन वर्ष बाद आरम्भ हुआ। उसके सामने अंगरेजी पूँजीपतियों का ही हित मुख्य था। शाही कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है, "यह विभाग इङ्गलैंड के कपास के व्यापारियों की इच्छानुसार १८६६ में फिर हाथ में ले लिया गया। भारत-सरकार की कृषि-नीति प्राय. इन्हीं व्यापारियों की इच्छानुसार निर्धारित होती रही है।" कपास के अलावा दूसरी चीजों पर भी, इंगलैंड के व्यापारियों का मन चला। उनके चाहने पर यहाँ प्रान्तों की सरकारों ने बनस्पतियों से बननेवाले रंग, वृक्षों की छाल, तेलहन और अनाजों की जाँच कराई; तथा जिन-जिन चीज़ों से इंगलैंड को फ़ायदा हो सकता था, उनको भारतीय कृषि-विभाग ने अपने हाथ में ले लिया।

इस विभाग ने अमरीका की कपास, मिश्र की तमाखू तथा विदेशी गेहूँ आदि वस्तुओं को यहाँ पैदा करने के अनेक प्रयोग इस उद्देश्य से किए कि यदि इनकी काश्त यहाँ अच्छी तरह हो सके तो ब्रिटिश

पूँजीपति यहाँ इनका कारोबार कर सकें। ये प्रयोग प्रायः सफल न हुए और इनमें इस देश का करोड़ों रुपया नष्ट हुआ। जो हो, सरकारी कृषि-नीति में भारतीय हित का तो बहाना मात्र रहा है। उसके प्रयोगों से भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि में उचित खादों के उपयोग, उत्तम प्रकार के बीज, पौधों के रोग, उनकी चिकित्सा, नए प्रकार के हलों, मशीनों और औज़ारों के उपयोग, तथा खेती करने के नए तरीकों का ज्ञान अवश्य हुआ, परन्तु उस ज्ञान का सर्वसाधारण में प्रचार करने की काफ़ी कोशिश नहीं की गई। भारतवर्ष में एक इम्पीरियल कृषि-अनुसंधान-समिति ('रिसर्च कौंसिल') तथा कुछ खास-खास नगरों में चीनी, दूध, मक्खन (डेयरी), और रुई आदि के अनुसंधान के लिए भी संस्थाएँ स्थापित की गईं। इनके सम्बन्ध में भी ऊपर कही हुई बात ठीक बैठती है।

अब हम कृषि-जागृति की दूसरी अवस्था का विचार करते हैं, जिसमें अंगरेज सरकार ने जनता के हित के कुछ सुधार तो किए, पर विशेष महत्व के नहीं।

कुछ मामूली सुधार—इस अवस्था में भी सरकार अपनी मालगुजारी की ज्यादती के दोष को स्वीकार करने और उसे दूर करने को तैयार नहीं हुई; हाँ, उसने कुछ मामूली सुधार किए, उनका परिचय आगे दिया जाता है। पहले जमींदार, कुछ स्थानों में, विशेषकर बंगाल में, किसानों को बहुत सताया करते थे, और उनसे मनमाना लगान वसूल कर लेते थे। सरकार ने किसानों को बचाने के लिए हरेक प्रान्त में कानून बना दिए। अब काश्तकारी क़ानूनों के कारण, उन्हें बेदखली का विशेष भय न रहने से यह भरोसा होने लगा कि खेती की उन्नति करने से जो अधिक लाभ होगा वह सब जमींदार को ही नहीं मिल जावेगा, वरन् उसके एक बड़े हिस्से के अधिकारी खुद किसान ही होंगे। इस कानून के होते हुए भी अनेक स्थानों में ज़मींदार गुप्त रूप में किसानों से बहुत अधिक रुपया वसूल करते रहे।

तकावी--सरकार किसानों को खेती के लिए जो रुपया उधार देती है, उसे 'तकावी' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यहाँ सन् १८८३ ई० में भूमि की उन्नति के लिए, और १८८४ में किसानों की सहायता के लिए, क़ानून पास हुए। परन्तु किसानों की संख्या तथा आवश्यकता को देखते हुए तकावी में दी जाने वाली रक़म बहुत कम रही है। फिर, राजकर्मचारी किसानों से किस्तों में रुपया लेने में उनकी सुविधा का विचार नहीं रखते थे। सूद की दर भी, जैसी कम चाहिए, नहीं होती थी।

सहकारी बैंक--किसानों को, महाजनों आदि के भारी सूद से बचाने के लिए सरकार ने सन् १९०४ ई० में सहकारी बैंकों के सम्बन्ध में एक कानून बनाया, इसमें पीछे कुछ संशोधन हुआ। उसके अनुसार अब हरेक प्रान्त में तीन तरह के बैंक हैं। (१) ग्रामीण बैंक—जिसे एक गाँव या पास-पास के कई गाँवों के दस-दस या अधिक आदमी मिलकर बना लेते हैं। (२) शहरी बैंक—जो एक नगर के कारीगरों, व्यापारियों या मजदूरों आदि की मदद के लिए बनाए जाते हैं। (३) सेन्ट्रल बैंक—जो ऊपर बताए हुए दो बैंकों को धन की सहायता देते हैं। इन बैंकों का प्रबन्ध स्थानीय सहकारी समितियों के सभासद ही करते हैं; और रुपया सभासदों को ही उधार मिल सकता है, सो भी उत्पादक कार्यों के लिए; अर्थात्, इन बैंकों से ऋण लेकर फ़जूलखर्ची नहीं की जा सकती। सरकारी नौकरों, कारीगरों, किसानों और मज़दूरों सब की ही बचत इन बैंकों में रखी जा सकती है। इनमें ब्याज अधिक मिलता है। इन बैंकों से लोगों में एक दूसरे का विश्वास बढ़ने के साथ-साथ दूरंदेशी और किफ़ायत आदि गुणों का भी विकास होता है। मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों और बैंकों के सिद्धान्तों को समझाने में ये बैंक बहुत आवश्यक हैं। इनसे कृषि, व्यापार, शिल्प, पुस्तकालय, पाठशालाओं, सफाई, अच्छे मकानों, और सुन्दर पशुओं की उन्नति हो सकती है। इस प्रकार, सहकारी बैंकों की निर्धन-कृषक-प्रधान भारतवर्ष

में अत्यन्त आवश्यकता है। पर यहाँ इनका प्रचार अभी बहुत कम है। फिर, इनमें बहुधा किसानों से रुपया वापिस लेने में इतनी सख्ती होती रही कि वे बेचारे आखिर में महाजनों का ही आसरा लेने को बाध्य हुए। इस से बैंकों का उद्देश्य ही बहुत-कुछ विफल हो गया।

सिंचाई—कुछ किसान लोग कुएँ और तालाब बना लेते हैं, पर निर्धनता के कारण बहुतेरे आदमी इन्हें नहीं बना सकते। नहरों के लिए तो सब को राज्य पर निर्भर रहना पड़ता है। भारतवर्ष में नहरों के निर्माण में विशेष ध्यान इसी सदी में दिया गया है। सन् १६०३ ई० के आबपाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने नहरों की ओर विशेष ध्यान दिया। पंजाब में कई नहरें बनवाई गईं। संयुक्तप्रान्त में शारदा नहर निकाली गई। सिंध में सक्खर बाँध बनाया गया। संयुक्तप्रान्त आदि कुछ प्रान्तों में 'टयूब वेल' नाम के कुओं का प्रचार बढ़ा; इन्हें 'पातालफोड़' कुएँ कहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है। इन कुओं में सिंचाई आदि के लिए जल की कमी नहीं होती। जल निकालने का काम बिजली की शक्ति से लिया जाता है। सिंचाई के सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

कृषि-कमीशन—सन् १६२६ में एक शाही कृषि-कमीशन नियत हुआ था। उसके कार्य में करीब तेरह लाख रुपए खर्च हुए, और उसकी अंगरेज़ी में, साढ़े सात सौ सफे की भारी भरकम रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें उसने कृषि सम्बन्धी उन्नति, अनुसन्धानों, भूमि-विभाग, नुमायशों, पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सहकारी साख सभाओं, और कृषि सम्बन्धी नौकरियों आदि पर अपने विचार प्रकट किए। पर भारतवर्ष में कृषि की उन्नति के लिए बहुत धन खर्च करके नई-नई रिपोर्टें प्रकाशित करने की इतनी जरूरत नहीं थी, जितनी इस बात की कि जो जानकारी मिली हुई है, उसे अमल में लाया जाय।

ग्राम-सुधार--यह कोई एक कार्य नहीं है, वरन् कई कार्यों का सामूहिक नाम है। इसमें, गाँवों का स्वास्थ्य, चिकित्सा और सफ़ाई, शिक्षा-प्रचार, पुस्तकालय, वाचनालयों की स्थापना, किसानों का क़र्ज़ से छुटकारा, उन्हें खेती सम्बन्धी सुधारों का ज्ञान कराना, छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों और गृह-शिल्प की उन्नति तथा कुएँ और सड़कें बनवाना आदि वे सब काम शामिल हैं, जिनसे गांव वालों का सुख और सुविधाएं बढ़ें। हमारी ९० प्रतिशत जनता गांवों में रहती है। जब राजनैतिक आन्दोलन की लहर गांवों की ओर बढ़ी, तो जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के वास्ते भारत-सरकार ने ग्राम-सुधार के लिए सन् १९३५-३६ ई० में कुछ विशेष ध्यान दिया। उस वर्ष एक करोड़ रुपया इस काम के लिए रखा गया, तथा अगले वर्ष बजट में बचत होने पर वह भी इसी मद में लगाने का निश्चय किया गया। यह रक़में देश की विशाल जनता और क्षेत्र के विचार से बहुत कम थीं; फिर, इनका भी पूरा उपयोग नहीं हुआ; और अधिकतर रुपया सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्ते आदि में, या दूसरे दिखावटी कामों में ख़र्च किया गया। गाँवों को विशेष लाभ न हुआ।

कांग्रेसी सरकारें---कृषि-जागृति की तीसरी अवस्था सन् १९३७ ई० से आरम्भ होती है, जब से कि सन् १९३५ के विधान का प्रान्तों सम्बन्धी भाग अमल में आया, और विशेषतया कांग्रेस ने मन्त्री-पद ग्रहण किया। कांग्रेस-शासन १९३९ तक ही रहा। सन् १९३७ में कांग्रेसी सरकारें पदारूढ़ होते ही, किसानों के कष्टों की ओर ध्यान देने लग गईं। उनके सामने कई कठिनाइयां थीं। किसानों के कष्ट बहुत समय के और बहुत अधिक थे, पर विधान के अनुसार प्रान्तीय सरकारों के अधिकार बहुत सीमित थे। फिर, क़ानून बनाने में काफ़ी समय लगता है, विशेषतया जब कि देश में, ज़मीदारों आदि का भी खासा दल हो, जिसका स्वार्थ अलग ही हो, जो किसानों के हित में अपना अहित मानता हो; और उसे यथा-सम्भव टालना या उसमें बाधा उपस्थित करना चाहता हो। जो

हो, विविध प्राँतीय सरकारों ने अपने-अपने प्रान्त की परिस्थिति के अनुसार किसानों के लिए उपयोगी क़ानून बनाने का विचार किया, और कुछ बातों की व्यवस्था उसी समय करदी। मिसाल के तौर पर संयुक्त प्रान्त के कांग्रेसी मंत्रिमण्डल ने यह आज्ञा जारी कर दी कि बकाया लगान वसूल करने की कारवाई रोक दी जाय। व्यवस्थापक मंडल ने भी इन आज्ञाओं की स्वीकृति दे दी। एक कृषि सम्बन्धी ('ऐग्रेरियन') कमेटी बना दी गई, जो लगान और मालगुज़ारी के क़ानून में ऐसे संशोधन करें, जिनसे किसानों के कष्ट दूर हों, तथा किसान, ज़मींदार और सरकार का एक-दूसरे से अच्छा सम्बन्ध रहे। एक और कमेटी किसानों के ऋण के सम्बन्ध में विचार करने के लिए बनाई गई। सरकार ने यह भी तय कर दिया कि सरकारी जङ्गलों के पास के गाँवों के लिए मवेशियों की चराई की फीस आधी कर दी जाय।

ऐसे कार्य दूसरे प्रान्तों में भी किए गए। पराधीनता-काल में भारत-सरकार द्वारा ग्राम-सुधार का कार्य बहुत असफल रहने की बात पहले कही जा चुकी है। अब प्रान्तीय सरकारों, विशेषतया कांग्रेस-सरकारों के, ग्राम-सुधार विभाग ने यथासंभव अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से, खूब काम किया। जहाँ-तहाँ कुछ उदार सज्जनों की सहायता से पशु-पालन, डेयरी खोलने, पशुओं की नस्ल सुधारने की ओर भी ध्यान दिया गया।

काश्तकारी कानून—समय-समय पर विविध प्रान्तों में किसानों की दशा सुधारने के लिए कानून बनाए गए हैं। उदाहरण-स्वरूप हम यहाँ संयुक्तप्रान्त के उस लगान-कानून की मुख्य बातें आगे देते हैं, जो जनवरी १९४० में लागू किया गया। यह कानून बन जाने से आगरा और अवध प्रदेश की लगान-प्रथा में कोई अन्तर नहीं रहा। इसकी मुख्य बातें ये हैं—

(१) शिकमी या सीर के काश्तकारों को छोड़कर प्रत्येक काश्तकार मौरूसी काश्तकार होगा।

(२) किसी जमींदार को ५० एकड़ से अधिक सीर रखने का अधिकार न होगा। सीर के काश्तकार को पाँच साल के पहले बेदखल नहीं किया जायगा।

(३) काश्तकारों को अपने खेत में पेड़ लगाने और मकान, कुआँ या पक्की नाली आदि बनवाने का अधिकार होगा।

(४) बकाया लगान के लिए बेदखल किए जाने के सम्बन्ध में काश्तकार को दो साल का समय दिया जायगा; यदि काश्तकार इस बीच में पिछला शेष तथा उस समय का लगान अदा कर देगा तो वह बेदखल नहीं किया जायगा।

(५) जमींदार किसानों से नज़राना, भेंट, बेगार आदि न ले सकेगा उसका सम्बन्ध उनसे वैसा ही होगा, जैसा सरकार का उससे है।

(६) लगान, पैदावार के पाँचवें हिस्से से अधिक न होगा। लगान सीधे जमींदार को दिया जा सकता है, मनीआर्डर द्वारा भेजा जा सकता है, या तहसील में जमा कराया जा सकता है। जब लगान जमींदार को दिया जायगा, तो किसान को उससे उसकी रसीद लेने का अधिकार होगा।

(७) मौरूसी काश्तकार का लड़का अपने पिता की जमीन का अधिकारी होगा।

इस कानून से किसानों को बहुत सी सुविधाएँ मिल गईं, फिर भी इसमें कुछ सुधारों की आवश्यकता है। इसके अनुसार उन किसानों को लगान से मुक्त नहीं किया गया है जिनकी जमीन से केवल लागत खर्च ही निकलता है, या वह भी नहीं निकलता, अर्थात् जो बे-मुनाफे की खेती करते हैं। उन्हें लगान से मुक्त रखा जाना चाहिए।

लगान की प्रथा पुराने ज़माने की एक ऐसी बात है जो अब हटा दी जानी चाहिए, और उन्नत देशों में हटाई जा चुकी है। जमीन से होनेवाली आय पर उसी तरह 'इनकम टेक्स' लिया जाना चाहिए, जिस तरह दूसरी आमदनी पर लिया जाता है।

किसानों सम्बन्धी समस्याएँ; चकबन्दी— अब हम किसानों सम्बन्धी वर्तमान समस्याओं का कुछ विचार करते हैं। यहाँ बहुत से किसानों के पास एक-एक से अधिक खेत हैं, जो एक-दूसरे से दूर हैं। इनमें काम करने में समय, शक्ति और धन बहुत लगता है और अकसर किसानों का बीच की जमीन वालों से झगड़ा भी होता रहता है। इसके सुधार का उपाय यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में एक चक में हो जायँ और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना कानून द्वारा रोक दिया जाय।

आजकल खेतों के बँटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग कानून है। इसमें ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी खेत का प्रायः पाँच एकड़ से कम का हिस्सा किसी हक़दार को मिलना नाजायज समझा जाय; जरूरत होने पर पूरा खेत सब हकदारों में ही नीलाम कर दिया जाय; जो उसकी सब से अधिक कीमत दे, उसी को वह खेत मिले; दूसरे हक़दारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय।

जमींदारी प्रथा और कृषि-आय-कर—भारतवर्ष का बहुत सा हिस्सा ऐसा है, जहाँ जमींदार या ताल्लुकेदार आदि हैं। किसान जितना लगान देते हैं, उसका लगभग आधा हिस्सा इन्हें मिलता रहा। इस प्रकार बड़े-बड़े ज़मींदारों को इतनी अधिक आमदनी हो जाती कि वे आरामतलबी और कुछ दशाओं में विलासिता का जीवन बिता सकें; जब कि अधिकांश किसानों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं रही। कांग्रेस-सरकारों को यह बात बहुत खटकी। सन् १९३७ में बिहार में जमींदारों की पाँच हजार रुपए या अधिक की आय पर 'कृषि-आय-कर' लगाया गया। असल में कर लगाने के लिए आय की यह सीमा अधिक थी। जबकि इनकम टेक्स के लिए दो हजार रुपए से कम की ही आमदनी कर से मुक्त थी तो कृषि-आय-कर के लिए केवल पांच छः सौ रुपए तक की आमदनी की छूट रखनी चाहिए थी; कारण, खेती की आय

देहातों से होती है, जहाँ जीवन निर्वाह कम खर्च में हो सकता है। फिर, बिहार में सहूलियत के लिए कर की दर भी कम रखी गई थी; यह सोचा गया था कि पीछे धीरे-धीरे इसे बढ़ाया जा सकेगा। अन्य प्रान्तों में कृषि-आय-कर लगाए जाने की आशा थी, लेकिन सन् १६३६ में कांग्रेस-शासन ही समाप्त हो गया।

जमींदारी प्रथा हट रही है—ज़मींदारी प्रथा के विविध दोषों के कारण इस प्रथा का बहुत समय से विरोध होता रहा है। प्रायः इस विषय में तो कोई मतभेद नहीं रहा कि यह प्रथा हटा दी जाय। विचारणीय विषय यही रहा कि इसे किस प्रकार हटाया जाय, ज़मींदारों को मुआवजा दिया जाय या नहीं, यदि दिया जाय तो किस हिसाब से, और ज़मींदारी प्रथा हटाने के बाद भूमि की व्यवस्था क्या हो। अब बंगाल, संयुक्तप्रान्त, बिहार, मद्रास की व्यवस्थापक सभाएँ जमींदारी उन्मूलन के कानून बना रही हैं।

स्मरण रहे कि भारतवर्ष में अधिकांश व्यक्तियों के पास भूमि बहुत कम है। वे सिर्फ नाम के ही जमींदार हैं। इस प्रकार ज़मींदारी प्रथा उठा देने का विशेष प्रभाव बहुत थोड़े ही आदमियों पर पड़ेगा। संयुक्त-प्रान्त की ज़मींदारी-उन्मूलन कमेटी ने सन् १६४८ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में हिसाब लगा कर बताया है कि कुल ज़मींदारों में से ६८·५ प्रतिशत को किसान ही समझना चाहिए, क्योंकि उनमें से कोई ऐसा नहीं है, जो वार्षिक मालगुजारी २५० रु० से अधिक देता हो। जमींदारी प्रथा उठा देने का यथार्थ प्रभाव उन बड़े ज़मीदारों की ही आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर पड़ेगा, जो पाँच हजार रु० या अधिक वार्षिक मालगुजारी देते हों; और ये इस प्रान्त के लगभग २१ लाख जमींदारों में से केवल ८०४ हैं।

मुआवजे का विचार— कुछ सज्जनों और खासकर समाजवादी विचार-धारा वालों का यह मत रहा है कि जमींदारों ने, पिछले डेढ़ सौ वर्षों में, अपने अधिकार वाली जंमीन से उचित से अधिक लाभ उठा

लिया है। इसलिए उन्हें कोई मुआवजा नहीं मिलना चाहिए। परन्तु यह सोचा गया कि ज़मींदारों के पास निर्वाह का कोई साधन न रहने देना ठीक न होगा। फिर कुछ जमींदार ऐसे भी हैं, जिन्होंने काफी कीमत चुका कर जमींदारी खरीदी है, और उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया है। इस प्रकार ज़मींदारों को मुआवजा देने का सिद्धान्त मान लिया गया, और यह निश्चय किया गया कि साधारण ज़मींदारों को एक साल में जितना लाभ होता है, मुआवजा उसका १५-२० गुना दिया जाय; जिससे वे अथवा उनके उत्तराधिकारी १५-२० वर्ष के अन्दर अपने को नए युग के अनुसार बना लें।

यह तो स्पष्ट ही है कि छोटी ज़मींदारी वालों को उनकी वार्षिक आय का जितने गुना मुआवजा मिलना चाहिये, बड़ी ज़मींदारी वालों को उतने गुना दिए जाने की आवश्यकता नहीं है। संयुक्तप्रान्त की ज़मींदारी उन्मूलन-कमेटी ने इस प्रान्त के ज़मींदारों को नौ श्रेणियों में बाँटकर उनके लिए वार्षिक आय का २५ गुना से लेकर ८ गुना तक मुआवजा देने की सिफारिश की है। दसवीं श्रेणी में ऐसे ज़मींदार रखे गए हैं, जो दस हज़ार रुपए से अधिक मालगुजारी देते हैं, इन्हें प्रथम दस हजार का आठ गुना और शेष का तीन गुना मुआवजा देने का विचार किया गया है। कमेटी ने मुआवजे की बड़ी-बड़ी रकमों को चालीस वर्ष की किस्तों में देने की सिफारिश की है।

आशा है, स्वतन्त्र भारत के ज़मींदारी प्रथा वाले सब प्रान्तों में इसी प्रकार की अथवा इससे मिलती-जुलती व्यवस्था की जायगी।

रैयतवारी प्रथा; किसानों का निर्वाह—श्री किशोरीलाल मशरूवाला का, और गांधी विचार-धारा वाले दूसरे बहुत से आदमियों का मत है कि रैयतवारी प्रथा ज़मींदारी प्रथा से इस बात में अच्छी अवश्य है कि राज्य और प्रजा के बीच से एक मध्यस्थ कम हो जाता है, लेकिन वैसे यह प्रथा भी ऐसी ही है, जैसी अनुपस्थित भूस्वामी-प्रणाली होती है, जिसमें मालिक अपना कर्तव्य सिर्फ लगान वसूल

करना और समय-समय पर उसे बढ़ा देना समझता है। रैयतवारी प्रथा में किसानों का जमीन पर अधिकार तभी तक रहता है, जब तक वह अपना लगान ठीक-ठीक चुकाता रहे। किसान को निर्वाह-वेतन मिलता है यानी उसे अपने गुजारे लायक आमदनी होती है—इस बात की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं होती। होना यह चाहिए कि किसान को निर्वाह-वेतन तो अवश्य ही मिले, चाहे वह ठहराया हुआ लगान भी न चुका सके। हाँ, किसान को राज्य के आदेशानुसार खेती करने और उसमें आवश्यक सुधार करने को बाध्य होना चाहिए।

अकाल और उसका निवारण—अंगरेजों के शासन-काल में यहाँ कितने अकाल पड़े, और उनमें कितने आदमियों ने भूख के कारण अपने प्राण दिए, अथवा कितने आदमी घटिया अन्न या शाक-पात या वृक्षों के पत्ते आदि खाने के कारण, विविध बीमारियों के शिकार हुए—यह एक स्वतंत्र पुस्तक का ही विषय है। अन्तिम अकाल सन् १९४३ का था; इसमें बंगाल बुरी तरह पिस गया। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इसमें १५ लाख, और दूसरे हिसाब लगाने वालों के मत से ३५ लाख आदमी मर गए। जो आदमी इस अकाल में रोग-ग्रस्त होकर कष्ट पाते रहे, उनकी संख्या रही अलग।

इस अकाल की जांच के लिए नियुक्त कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि यह अकाल कुछ तो प्रकृति-दत्त था, पर बहुत-कुछ मनुष्य-कृत अर्थात् मुनाफेखोरी और चोरबाजारी आदि के कारण; और स्वयं सरकार पर भी इसका उत्तरदायित्व था। सरकार ने सन् १९४२ से 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया था, पर वह केवल जबानी जमा-खर्च या कागजी कार्रवाई ही रहा। अकाल के बाद सरकार ने किसानों से अन्न को निर्धारित मूल्य पर खरीद कर उसे देश के विविध भागों में समान रूप से वितरण करने का प्रयत्न किया, पर जनता का विश्वास और सहयोग प्राप्त न कर सकने के कारण उसे इसमें सफलता नहीं मिली।

स्वतंत्र भारत और खेती की उन्नति--सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ तो खेती की ऐसी व्यवस्था करने का विचार किया गया, जिससे देश के सब निवासियों को भरपेट भोजन मिल सके। अन्न की पैदावार एकदम बहुत नहीं बढ़ाई जा सकती, इसलिए तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए तो विदेशों से अन्न मंगाना अनिवार्य ही था। परन्तु किसी स्वतंत्र देश का भोजन जैसी प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए परावलम्बी रहना बहुत अपमानजनक है। इस विचार से स्वतंत्र भारत की सरकार ने कृषि की उन्नति के लिए विविध प्रकार के उपाय काम में लाने का निश्चय किया।

नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजनाएँ--कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई की कितनी आवश्यकता होती है, यह स्पष्ट ही है। अंगरेज सरकार ने अपने लम्बे समय के शासन में खासकर पंजाब और सिंध में ही नहर द्वारा सिंचाई की व्यवस्था की थी। भारतवर्ष का विभाजन होने पर आधी नहरें पाकिस्तान में चली गईं; भारतीय संघ में नहरों से सींची जानेवाली भूमि आधी ही रह गई। स्वतंत्र भारत की सरकार ने इस ओर ध्यान दिया। उसने सिंचाई के लिए तथा बाढ़ रोकने एवं बिजली के लिए—समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए—नदियों पर कई बांध बांधने की योजनाएँ बनाईं, जैसे (१) भाकर (पूर्वी पंजाब), २—दामोदर (पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बिहार), ३—हीराकुंड (उड़ीसा)। इनमें १ अरब ७५ करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है; और भी कई नदियों की उन्नति करने का कार्य सामने है। इस कार्य की उपयोगिता स्पष्ट है।

भूमि-सुधार—इस बात की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है कि अधिक-से-अधिक भूमि में खेती की जाय। उदाहरण के लिए बम्बई प्रान्त में खार-भूमि की रक्षा और उन्नति, तथा ज्वार-भाटा वाली भूमि का निर्माण तथा मरम्मत करने का निश्चय किया गया है। संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और मत्स्य-संघ (अलवर, भरतपुर आदि) में बड़े-बड़े ट्रैक्टरों

आदि यंत्रों द्वारा बड़े परिमाण में भूमि-सुधार किया जाने लगा है। इस प्रसंग में यह याद रखना है कि हमारे देश में इंगलैंड अमरीका की तरह मनुष्य-शक्ति की कमी नहीं है, यहाँ यंत्रों का ऐसा उपयोग न किया जाना चाहिए जिससे बेकारी बढ़े। इस प्रकार भारतीय कृषि में ट्रेक्टर आदि का उपयोग कुछ खास दशाओं में और बहुत परिमित सीमा में ही किया जाना चाहिए। आवश्यकता है कि खेती के लिए बैलों की नस्ल सुधारने और उनकी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय।

खाद्य-उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ— खाद्य-उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में प्रयत्न कर रही हैं। उदाहरण के लिए मध्यप्रान्त की सरकारी योजना की मुख्य बातें ये हैं:— (१) सन की हरी खाद की योजना, (२) रासायनिक खाद की योजना, (३) खली की खाद की योजना, (४) कचरे, कूड़े और मैले से (कम्पोस्ट) खाद तैयार करके उसके वितरण की योजना (५) फसलों के लिए बीज के वितरण की योजना, (६) नई तोड़ी हुई पड़ती ज़मीन में चने की फसल पैदा करने की योजना, (७) तरकारी, भाजी आदि के वितरण की योजना, (८) सिंचाई के लिए पुराने कुओं की मरम्मत की योजना, और (९) सिंचाई के लिए छोटे-छोटे तलावों को खोदने की योजना।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों की सरकारें भी खेती की उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। आशा है, स्वतंत्र भारत शीघ्र ही अपने खाद्य पदार्थों के लिए एवं खेती की अन्य पैदावार के वास्ते स्वावलम्बी होगा। इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखने की बहुत आवश्यकता है कि हमारी योजनाओं का प्रधान लक्ष्य भोजन और वस्त्र सम्बन्धी साधनों को उत्पन्न करना होना चाहिए ; इन आवश्यकताओं को पूरी करने के बाद जो ज़मीन बचे वह दूसरे औद्योगिक कार्यों के लिए उपयोग में लाई जा सकती है—जैसे मिलों के लिए गन्ना पैदा करना या विदेशी व्यापार के लिए तिलहन आदि पैदा करना। हर दशा में प्राथमिकता देशवासियों

की भोजन-वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं को मिलनी चाहिए।

किसान-आन्दोलन—किसान-आन्दोलन को अखिल भारतीय स्वरूप सन् १९३५ में मिला है; यों तो किसान-सभाएँ देश में इससे बहुत पहले से थीं। किसानों के जहाँ-तहाँ कुछ आन्दोलन भी हो जाते थे, परन्तु वे असंगठित होते थे। सन् १९०७ में पंजाब में किसानों की प्रबल अशान्ति दिखाई पड़ी। पीछे सन् १९२१ तक तो उनकी अशान्ति ने देश भर में विकट रूप धारण कर लिया था। किसानों को यथेष्ट नेतृत्व न मिलने से उनकी अशान्ति बहुधा बाजार आदि लूटने में प्रकट होती थी और कुछ समय बाद उनका जोश ठंढा पड़ जाता था। सन् १९२१-२२ और १९३०-३२ के राष्ट्रीय आन्दोलन में हज़ारों किसान-जेल गए। धीरे-धीरे कुछ लोगों को यह मालूम हुआ कि काँग्रेस में जमींदारों का जोर है; और वह किसानों का काफी पक्ष नहीं ले रही है, इसलिए उन्होंने किसानों का अलग संगठन बनाने की आवश्यकता समझी। पहले बिहार, आन्ध्र, संयुक्तप्रान्त और बंगाल आदि में प्रान्तीय संगठन हुए। पीछे सन् १९३५ में एक अखिल भारतीय किसान संगठन कमेटी बनी, उसके उद्योग से सन् १९३६ में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के सभापतित्व में अखिल भारतीय किसान-कांग्रेस का लखनऊ में अधिवेशन हुआ। इसमें अखिल-भारतीय किसान-घोषणापत्र तैयार किया गया।

किसानों की माँग—किसानों की कम-से-कम माँगें संक्षेप में इस प्रकार थीं—

(१) ज़मींदारी प्रथा का नाश हो। (२) वर्तमान लगान प्रथा के बजायखेती की ५००) या उससे अधिक आय पर कर लिया जाय। ५००) से कम आय पर टेक्स न लगे। (३) पुराने ऋणों तथा सूद से किसानों को मुक्ति मिले। किसानों को रुपया उधार देने की व्यवस्था हो। (४) जिन किसानों के पास खेती के लिए भूमि न हो, उन्हें भूमि दी जाय।

जिन माँगों के लिए तत्काल आन्दोलन करने का निश्चय किया गया, वे ये थीं—

(क) तमाम बाकी लगान रद्द कर दिया जाय।

(ख) आबपाशी तथा लगान में कम से कम ५० फी-सदी कमी हो।

(ग) फसल खराब होने पर लगान माफ हो।

(घ) बेगार, नजराना आदि हर प्रकार की नाजायज देन गैर-कानूनी ठहराई जाय।

(च) ज़मींदारों की आय पर इनकमटेक्स तथा मृत्यु-कर लगे।

(छ) लगान, सूद आदि न देने पर किसान गिरफ़ार न हो।

सन् १९३७-३९ में कांग्रेसी सरकारों ने इनमें कई मांगों को पूरी करने की कोशिश की। अब तो भारत स्वतंत्र ही है। आशा है किसानों के हित के लिए यथेष्ट व्यवस्था होगी।

ग्राम-पंचायतें—प्राचीन काल में यहाँ ग्राम-पंचायतों के बदौलत लोगों में आपस में मेलजोल, सहानुभूति और प्रेम का जीवन था। किसान सुखी और सन्तुष्ट था। झगड़ा, बैर और विरोध, अकाल, मँहगाई आदि न थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने हमारा सामाजिक ढाँचा बिगाड़ दिया, ग्राम-पंचायतें नष्ट कर दीं। सन् १९२० के लगभग प्रान्तीय सरकारों ने इस ओर ध्यान दिया और विविध प्रान्तों में पंचायतें स्थापित कीं। परन्तु इनके अधिकार पुरानी पंचायतों की अपेक्षा बहुत कम थे। इनके सदस्य नामजद होते थे, गाँव वालों के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं। ये एक प्रकार की सरकारी संस्थाएँ थीं। इनका कार्य सरकारी कर्मचारियों की सहायता से, और उनके ही निरीक्षण और नियन्त्रण में होता था।

स्वतन्त्र भारत की पंचायतें और किसान— अब स्वतन्त्र भारत में नए ढंग की पंचायतें स्थापित की जा रही हैं। उदाहरण के लिए संयुक्तप्रान्त में सन् १९४७ में पंचायत-राज-कानून बनाया गया है। इसके अनुसार इस प्रान्त के लगभग एक हजार या अधिक आबादी

वाले हरेक गाँव या ग्राम-समूह में वहाँ के सब प्रौढ़ व्यक्तियों की एक-एक ग्राम-सभा है। उस ग्राम की सभा की कार्यकारिणी ग्राम-पंचायत है, जिसमें जनसंख्या के अनुपात से ३० से ५२ तक सदस्य होते हैं।

ग्राम-पंचायतों का किसानों से घनिष्ट सम्बन्ध रहेगा। मिसाल के तौर पर संयुक्तप्रान्तीय ज़मींदारी उन्मूलन कमेटी ने किसानों को भूमि का अधिकार देते हुए सिफारिश की है, कि इस अधिकार का दुरुपयोग न हो, और इस नियम के प्रतिबन्धों को अमल में लाने का अधिकार ग्राम-पंचायतों को रहे। भूमि की बिक्री तथा मूल्य-निर्धारण पंचायत द्वारा हो, और पंचायत उसी किसान को अपनी भूमि बेचने की इजाज़त दे, जिसके पास बिक्री के बाद दस एकड़ भूमि रहे, जो कि एक परिवार के लिए आवश्यक मानी गई है। भूमि की बिक्री पंचायत द्वारा होने से यह भी लाभ होगा कि इस प्रसंग में 'पगड़ी' या नज़राना आदि देने की कुप्रथा न रहेगी। पंचायत को ग्राम-क्षेत्र की बंजर या ऊसर भूमि का तथा ऐसी सब भूमि का स्वामित्व होगा, जिसका प्रयोग गाँव के सब आदमी करते हैं, जैसे तालाब, कुएँ, चरागाह और बाजार आदि। पंचायतों को ही लगान अर्थात् भूमि-कर वसूल करने, कृषि की उन्नति करने की योजनाएँ अमल में लाने तथा गाँव के विकास की योजनाएँ बनाने का अधिकार होगा।

विशेष वक्तव्य—किसानों को चाहिए कि पंचायतों का यथेष्ट संगठन करें। फिर उन्हें अपनी अलग संस्थाएँ बनाने की आवश्यकता न रहेगी। आशा है अब किसान बहुत समय तक दीन-हीन दशा में न रहेंगे। उनमें सेवा, त्याग और परिश्रम आदि अमूल्य मानवी गुण विद्यमान हैं। उनकी आर्थिक परिस्थिति सुधर जाने पर भारतवर्ष में फिर खेती का गौरव बढ़ेगा और भारतीय किसान सुख से स्वाभिमान का जीवन बिताता हुआ भारतवर्ष की उन्नति में अच्छा सहायक होगा।

पाँचवाँ अध्याय

आर्थिक जागृति

(२) उद्योग-धंधे

ब्रिटिश हुकूमत ने हिन्दुस्तान में जो नीति अपनाई, उससे ज्यादातर गाँव के धन्धों की जगह बड़े कारखानों ने लेली। और, आज की नीति भी गाँव वालों के हाथ से सारा काबू छीन लेना चाहती है। इससे गाँववालों के भले को नुकसान पहुंचेगा। हमें दूर-दूर के बाजारों को बढ़ावा नहीं देना चाहिए, बल्कि देश के भीतर के बाजारों और खपत को बढ़ाना चाहिए।

—जे० सी० कुमारप्पा

औद्योगिक जागृति से हमारा मतलब यह है कि देश में शिल्प, व्यवसाय, कारीगरी और उद्योग-धंधों से ऐसा और इतना सामान बने कि हम विदेशों के आसरे न रहें, अपनी ज़रूरतें खुद पूरी कर सकें। साथ ही हमारे कारीगरों और माल बनानेवालों का रहनसहन का दर्जा काफी ऊँचा हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और विकास में कोई बाधा न हो, और उनका जीवन सुखी हो। हमारी चीज़ों का संसार के बाजार में और हमारे आदमियों का मानव समाज में, अच्छा स्थान हो। मोटे हिसाब से हमारी इस समय की औद्योगिक जागृति, धार्मिक और सामाजिक जागृति की अपेक्षा, कम समय की है; यह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में शुरू हुई। इसका विचार करने के लिए, पहले की हालत पर एक नज़र डालना ज़रूरी है।

भारतवर्ष की प्राचीन समृद्धि—साधारण आदमी को यह जल्दी विश्वास नहीं होता कि जिस भारत भूमि में अपने ही करोड़ों आदमियों के लिए अन्न-वस्त्र की कमी है, वह कभी विदेशियों की भी पेट

भरने और शरीर ढकनेवाली समृद्धिशाली "सोने की चिड़िया" रही होगी। परन्तु इतिहास-प्रेमियों ने यह भली भांति सिद्ध कर दिखाया है कि ईसा मसीह से हजारों वर्ष पहले से लेकर बहुत समय बाद तक भारतवर्ष अन्य देशों के निवासियों को आवश्यकताएँ पूरी करता रहा। मुग़ल-शासन के अधिकाँश समय में भी किसान और कारीगर सुख की नींद सोते रहे। बादशाहों की सुरुचि या शौकीनी के कारण देश का कला-कौशल, गृह-निर्माण, शिल्प और हुनर बाहर वालों के लिए नमूना बने रहे। सतरहवीं हो नहीं, अठारहवीं सदी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा अन्य पदार्थों के लिए सारा योरप लालायित रहता था। यहाँ से करोड़ों रुपए का माल बाहर जाता था, और विदेशियों को चकित करता था।

मशीनों का युग—इस अवसर पर मानवी ज्ञान के इतिहास में एक घटना हुई, जिससे लाभ न उठा सकने के कारण, भारतवर्ष साँसारिक घुड़दौड़ में दूसरे देशों से पीछे रह गया। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान में उन्नति करके भाप को अपना सेवक बना लिया और कल-कारखानों से काम लेना आरम्भ कर दिया। दूसरे देशों की तरह पहले इंगलैण्ड में जो माल कलों से तैयार हुआ, वह हाथों से तैयार किए हुए माल की अपेक्षा भद्दा और मँहगा था, पर वहाँ की सरकार स्वतन्त्र और देश-हितैषी थी। उसने 'स्वदेशी-प्रचार' की नीति रखी, अपने यहाँ के माल बनानेवालों को तरह-तरह से प्रोत्साहन दिया और उन्हें आर्थिक सहायता देकर अपना माल बाजार में सस्ते भाव से बेचने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार वह माल इंगलैंड में ही नहीं, बाहर देशों में भी बिकने लगा। साथ ही उसने विदेशी माल पर सत्तर-अस्सी फ़ी सदी तक ऐसा कर लगाया कि वह माल इंगलैंड में खप ही न सके। उस समय भारतवर्ष की कारीगरी बहुत उन्नत अवस्था में थी। यदि यहाँ के शासकों को आजादी होती, और इस देश को आत्म-रक्षा के लिए विलायती माल पर वैसा ही कर लगाने का अधिकार होता तो इसे

औद्योगिक क्षेत्र में नीचा देखने का अवसर न आता। पर यह न हुआ।

कम्पनी के समय में औद्योगिक ह्रास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में भारतीय कारीगर और व्यवसाय पर क्या बीती, उसके गुमाश्तों ने कैसी-कैसी मनमानी कार्रवाई की, किस तरह उनके अत्याचारों से कारीगरों की बस्तियां उजड़ गईं, और जन साधारण तंग आकर घर-द्वार छोड़ कर भाग गए; इन बातों का विशेष वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। अपनी स्वेच्छाचारिता से, कम्पनी ने उस समय की राजनैतिक उथलपुथल में, अंधाधुंध धन पैदा करने में कोई कसर न उठा रखी। इंगलैण्ड के अधिकारियों ने भी उसे इसमें भरसक सहयोग प्रदान किया। विविध प्रामाणिक ग्रन्थों में इस बात का सविस्तर ब्योरा प्रकाशित हो चुका है कि कम्पनी का शासन-काल हमारे औद्योगिक ह्रास का समय रहा है। कम्पनी ने इस देश को कृषि-प्रधान बना दिया; अब लगभग ७० फीसदी आदमी सिर्फ खेती के भरोसे रहते हैं।

कम्पनी के राजनैतिक अन्यायों और उसकी घातक व्यापार-नीति का परिणाम यह हुआ कि इस देश से तैयार माल की रफ़्नी दिनों-दिन घटती गई। शाल, मलमल आदि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र; शक्कर तथा कई प्रकार के अर्क व अन्य पदार्थ टेक्सों की अधिकता के कारण विलायत को बहुत कम जाने लगे; यह देश केवल अन्न रूई, सन्, रेशम आदि कच्चा माल बेचनेवाला रह गया। असल में अंगरेजों का हित इसी बात में था कि भारतवर्ष उन्हें इंगलैंड के कल-कारखानों के लिए ये कच्चे पदार्थ देवे। रूई के लिए पहले उन्हें अमरीका पर आश्रित रहना पड़ता था। भारतवर्ष से ही अच्छी कपास काफी मिल सके, इसके लिए उन्होंने बरार, सिन्ध और पंजाब आदि प्रान्तों पर अधिकार किया। फिर, कपास की उपज बढ़ाने के लिए कोशिश की गई। इसी प्रकार नील और चाय आदि की खेती की ओर भी अंगरेज़ों

ने खूब ध्यान दिया। कम्पनी की शिक्षा-नीति भी उद्योग धन्धों की उन्नति में बाधक रही। शिक्षा-संस्थाएँ इस उद्देश्य से खोली गईं कि युवक दफ़्तरों में नौकरी करने योग्य रह जायँ, न कि देश को शिल्प व्यवसाय आदि में स्वावलम्बी बनावें। रेलों के चलाने में भी यह लक्ष्य रखा गया कि वे यहाँ का कच्चा और सस्ता माल विदेशों को भेजने, और बाहर का तैयार और क़ीमती सामान इस देश में लाने में मदद दें। वैसे, उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि उनसे यहाँ ब्रिटिश राज्य को जमाने और मजबूत करने में सहायता मिले; आवश्यकता के समय सेनाएँ शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जा सकें। वास्तव में भारतवर्ष को रेलों की अपेक्षा पक्की सड़कों तथा नहरों की आवश्यकता अधिक थी; परन्तु सरकार ने अपने तथा इङ्गलैंड के लाभ के वास्ते विशेष कर रेलों पर ही ज्यादा ख़र्च किया।

औद्योगिक उन्नति का आरम्भ—धीरे-धीरे भारतीय नेता यह सोचने लगे कि देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए यहाँ उद्योग धन्धों में अधिक आदमी लगें; इससे कृषि पर निर्भर रहनेवालों की संख्या कम हो जावेगी, तथा विदेशी माल की कीमत चुकाने के लिए यहाँ का जो धन हर वर्ष बाहर चला जाता है, वह यहीं रहेगा और यहाँ के लोगों की गरीबी कम करेगा और सुख-समृद्धि बढ़ावेगा। देश में जागृति के भाव उत्पन्न हो जाने पर ऐसी बातों के समझने में कुछ देर नहीं लगती। निदान, उद्योग-धन्धों का संगठन यहाँ सन् १८५० ई० से हुआ। सरकार की व्यापार सम्बन्धी नीति अनुकूल न होते हुए भी, कपड़ा बुनने की कई मिलें चलने लगीं। लोहे-फ़ौलाद आदि का माल तैयार करने के भी कई कारखाने खुल गए। इस औद्योगिक जागृति में जे० एन० टाटा (जेमसदजी नौशेरवान जी टाटा) ने अच्छा हिस्सा लिया। उन्होंने कपड़े के मिल और लोहे-फ़ौलाद तथा बिजली के कारखाने चलाने के अलावा बंगलोर में एक वैज्ञानिक अनुसन्धान-संस्था स्थापित की।

स्व० महादेव गोविन्द रानाडे आदि सज्जनों के परिश्रम से सन्

१८९० ई० में औद्योगिक सभा (इंडस्ट्रियल कान्फ्रेंस) की स्थापना की गई। धीरे-धीरे इसकी प्रान्तीय शाखाओं के भी वार्षिक अधिवेशन होने लगे। इनका उद्देश्य औद्योगिक उन्नति के उपायों का विचार करना था। इनसे लोगों में स्वदेशी वस्तुएँ काम में लाने की भावना बढ़ी।

स्वदेशी और बहिष्कार—स्वदेशी आन्दोलन को, सन् १९०५ ई० में बंगाल के दो टुकड़े किए जाने से, बड़ी उत्तेजना मिली। यद्यपि इस समय का बहिष्कार-आन्दोलन इङ्गलैंड वालों को, यहाँ के असंतोष से परिचित करने के लिए आरम्भ हुआ था, इसका प्रयोग समस्त विदेशी माल के विरुद्ध रहा, चाहे वह जर्मनी, अमरीका आदि किसी भी देश का हो। यह आन्दोलन पहले बहुत सफल होता हुआ मालूम हुआ, पर जोश में शुरू होने के कारण, इसकी नींव मज़बूत न थी। कुछ समय बाद इसमें ढील आ गई। तो भी इससे लोगों का अनुभव बढ़ा और कुछ चीजों के कारखाने स्थायी रूप से चलने लगे। बहिष्कार-आन्दोलन जनता का एक अमोघ अस्त्र है। सन् १९१९ ई० में तथा उसके बाद जब राष्ट्रीय आन्दोलन समय-समय पर, व्यापक रूप से हुआ, तो उसका एक मुख्य अंग विदेशी-वस्तु-बहिष्कार रहा है। इसका लक्ष्य देश को, खासकर वस्त्र-व्यवसाव में स्वावलम्बी बनाना है। कपड़े पर खास ज़ोर देने का कारण यह है कि यह अन्य किसी पदार्थ से अधिक क़ीमत का यहाँ आता है, और इसकी ज़रूरत सब को होती है, तथा यह यहाँ सहज ही तैयार भी हो सकता है। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

औद्योगिक कमीशन और आर्थिक जाँच—पहले योरपीय महाभारत (१९१४-१८) से भारतवर्ष को मंहगाई और दुष्काल भी मिला। नीचे की श्रेणी के लोगों की तो बात ही क्या, ऊँची श्रेणी के भी बहुत से गृहस्थों का निर्वाह कठिन हो गया। सरकार ने १९१६ में यहाँ की औद्योगिक दशा की जाँच करने के लिए एक कमीशन बैठाया

इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि सरकार को भविष्य में, यहाँ के उद्योग धन्धों में, ऐसा भाग लेना चाहिए, जिससे देश स्वावलम्बी हो। सन् १९२२ ई० में एक आर्थिक जांच समिति नियुक्त हुई। इसकी मुख्य सिफ़ारिशें ये थीं—(क) भारतीय उद्योग धन्धों की रक्षा के लिए, बाहर से आनेवाले माल पर कर लगाना चाहिए। (ख) भारत में बननेवाले माल पर कर न लगाना चाहिए। (ग) विदेशी पूंजी को भारत में बिना रुकावट आने देना चाहिए। इस समय से भारत-सरकार अपनी उदासीनता छोड़ कर इन बातों पर ध्यान देने लगी। अब उद्योग-धन्धों का 'संरक्षण' आरम्भ हुआ।

उद्योग-धन्धों का संरक्षण—इसे समझने के लिए यह जान लेना चाहिए कि व्यापार नीति के मुख्य दो भेद हैं—(१) मुक्तद्वार या बेरोकटोक व्यापार-नीति और, (२) संरक्षण-नीति। मुक्तद्वार-व्यापार का अर्थ यह है कि आयात-निर्यात पर कर लगाने में स्वदेशी-विदेशी का भाव न रहे। अपना माल बेरोकटोक जाने दिया जाय तथा दूसरे देशों का माल अपने देश में स्वतंत्रता-पूर्वक आने दिया जाय। इसके विपरीत; संरक्षण-नीति वह है, जिससे विदेशी वस्तुओं की आयात पर भारी कर लगा कर उनका आना बन्द कर दिया जाता है, अथवा बहुत कम कर दिया जाता है, ताकि स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायता पहुँचे।

भारत-सरकार के अब संरक्षण-नीति आरम्भ करने का कारण यह था कि उसकी मुक्त-द्वार व्यापार-नीति का भारतवर्ष की जनता और खासकर व्यापारी समुदाय ने घोर विरोध किया था। और, यहाँ की बनी वस्तुओं पर कर लगाए जाने से सारा देश यह समझने लगा था कि ब्रिटिश सरकार, भारतीय व्यवसाय पनपने देना नहीं चाहती। (प्रथम) महायुद्ध के बाद, जनता की इस धारणा को कुछ अंश में बदलना आवश्यक था। इसी विचार से सन् १९१९ ई० के शासन-सुधारों में यह निश्चय किया गया कि भारत-सरकार और व्यवस्थापक

सभा दोनों जिस नीति से सहमत हों, उसे काम में लाया जावे; भारत-मन्त्री उसमें हस्तक्षेप न करे।

भारत-सरकार की यह नीति-परिवर्तन ब्रिटिश पूँजीपतियों के हित के लिए ही था। वे यहाँ के कच्चे माल और सस्ती मजदूरी से लाभ उठाना चाहते थे। इसका उन्हें अब अच्छा अवसर मिला।

विदेशी पूँजीपतियों का लाभ—जब भारत-सरकार यहाँ के कुछ धंधों का संरक्षण करने लगी तो अंगरेज पूँजीपतियों ने भारतवर्ष में अपने कारखाने स्थापित करने आरम्भ कर दिए। इससे उन्होंने एक ओर, तो भारत-सरकार की संरक्षण-नीति से लाभ उठाया। दूसरे उन्होंने अपने माल को यहाँ स्वदेशी कह कर खूब बेचा। इस प्रकार उन्होंने जनता की स्वदेशी भावना से अनुचित लाभ उठाते हुए इस देश को खूब ठगा। भारतीय नेताओं ने इस बात का प्रयत्न किया कि यहाँ विदेशी पूँजी विशेष परिमाण में न लगे, परन्तु ब्रिटिश हितों की संरक्षक और पोषक तत्कालीन भारत-सरकार ने यहाँ की 'औद्योगिक उन्नति' के लिए उसका लगाया जाना आवश्यक समझा। उसने उसका कोई नियंत्रण न किया।

यद्यपि कुछ ब्योरेवार बातों के पीछे समय-समय पर कुछ अन्तर होता रहा, भारतवर्ष के पराधीनता-काल में यहाँ की औद्योगिक नीति का मूलमंत्र अंगरेजों का फायदा होना ही रहा। अस्तु, अब हम उद्योग-धंधों में लगे मजदूरों का विचार करते हैं।

कारखानों में मज़दूरों की दशा—हमारी औद्योगिक उन्नति का उद्देश्य देश का कुछ धन बढ़ जाना ही न होना चाहिए। यदि मुट्ठी भर लखपती या करोड़पतियों की संख्या सवाई-ड्योढ़ी ही हो गई तो इससे विशेष हित न होगा; सम्भव है, हानि ही हो। अस्तु, हमें कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की दशा का विचार करना चाहिए, उनकी नैतिक तथा शारीरिक दशा कैसी है, उसमें क्या सुधार हुआ तथा होने की आवश्यकता है। रेलों तथा कल-कारखानों का काम

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ, तभी से मज़दूर-वर्ग का, आधुनिक अर्थ में, जन्म समझा जाता है। प्रारम्भ में मजदूरों की दशा बहुत ही दयनीय थी। वे अपने मालिकों के लिए धन पैदा करने को मशीन थे, उनके स्वास्थ्य या सुविधा की व्यवस्था करने की कोई बात न थी। अगर वे कभी काम बन्द करके या अन्य प्रकार से अपना रोष और असंतोष प्रकट करते तो उनकी बुरी तरह खबर ली जाती, साथ ही सरकार की पुलिस और फौज भी मालिकों का ही पक्ष ले लेती। मज़दूरों की रक्षा के लिए न कोई संगठन था और न कोई नेता।

मजदूर-आँदोलन—यह कहा जा सकता है कि सन् १८७५ तक यहाँ सरकार ने मजदूरों के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया। इस वर्ष भारत-मंत्री के अनुरोध पर बम्बई-सरकार ने कारखानों के मजदूरों की जाँच के लिए एक कमीशन नियत किया। इस कमीशन ने मजदूरों की रक्षा के लिए किसी कानून बनाए जाने की अवश्यकता नहीं बताई। पीछे' सन् १८८१ में पहला कारखाना-कानून बना। इसमें केवल सात से बारह वर्ष तक के बालकों के काम करने की अवधि (नौ घंटे) निर्धारित की गई। इस कानून के विरुद्ध श्री सोरावजी सोपुर जी बंगाली और नारायणराव लोखांडे ने आन्दोलन किया, इसमें बहुत से मजदूरों तथा स्त्रियों ने भाग लिया। सन् १८९० में बम्बई में एक सभा दस हजार मजदूरों की हुई। इससे प्रभावित होकर वहाँ के मिल-मालिकों ने साप्ताहिक छुट्टी देना स्वीकार किया।

इस वर्ष श्री लोखांडे ने 'बम्बई मिल-मजदूर-संघ' स्थापित किया। यह भारत में सबसे पहला मजदूर-संगठन था। इस अवसर पर 'दीन-बन्धु' नामक पहला मजदूर पत्र निकाला गया; यह साप्ताहिक था। इसी वर्ष भारतीय मजदूरों की जाँच के लिए एक सरकारी कमीशन नियुक्त किया गया; उसने कितने ही मजदूर स्त्री-पुरुषों की गवाहियाँ लीं। उसके सामने बम्बई मजदूर-संघ ने एक माँग-पत्र भी उपस्थित किया, उसकी रिपोर्ट के आधार पर सन् १८९१ में, सन् १८८१ के कानून का संशोधन

हुआ।

बीसवीं सदी का प्रारम्भ जागृति के लिए विशेष रूप से अनुकूल हुआ। सन् १६०५ और १६०६ में रूस के मजदूर, जारशाही का विरोध कर रहे थे। इधर भारतवर्ष में बंग-भंग से देश भर में क्रान्ति हो रही थी। मजदूरों पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। यहाँ सन् १६०५ में कलकत्ता-प्रेस-कर्मचारी-यूनियन की और सन् १६०६ में बम्बई-पोस्टल कर्मचारी-संघ की स्थापना हुई। सन् १६०८ में लो० तिलक को छः वर्ष की कड़ी कैद की सजा मिली तो बम्बई की सूती मिलों के मजदूरों ने तीन दिन तक आम हड़ताल की।

सन् १६१० में, बम्बई में 'कामगार हित बर्द्धक सभा' स्थापित हुई। इसने सरकार को प्रार्थनापत्र भेजकर मजदूरों के लिए विविध सुविधाओं की माँग की और एक साप्ताहिक पत्र 'कामगार समाचार' भी निकाला। सन् १६११ में तीसरा कारखाना-कानून बना।

मजदूरों का संगठन; आ० भा० ट्रेडयूनियन कांग्रेस—मज़दूरों के संगठन का काम कुछ विशेष रूप से सन् १६१८ के आसपास शुरू हुआ। उस समय जी० आई० पी० रेलवे मज़दूर-संघ, अहमदाबाद लेबर एसोसियेशन, नार्थवेस्टर्न रेलवे यूनियन, कानपूर मज़दूर सभा आदि बनीं। प्रथम योरपीय महायुद्ध के कारण चीज़ों का भाव बढ़ गया था, और मिलों में खासकर सूती मिलों में मुनाफा भी खूब हुआ था, तो भी मजदूरों की वेतन और दूसरी सुविधाएँ नहीं बढ़ीं थीं। फिर, सेना की भर्ती, युद्ध के चन्दे और करों का भार भी निर्धन जनता को बहुत अखर रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने रालेट एक्ट बनाकर तथा जलियाँनवाला-बाग हत्याकाँड करके, राष्ट्रीय आँदोलन को और उसके साथ मजदूर-आन्दोलन को और भी तीव्र कर दिया। रूस में बोलशेविक क्रान्ति की सफलता और मजदूर-राज्य की स्थापना से मजदूरों में नई आशा और उत्साह का संचार हुआ। मजदूरों का संगठन कुछ अच्छी तरह होने लगा। सन् १६१८ में श्री वी० पी०

वाडिया के नेतृत्व में मदरास के सूती कारखानों के मजदूरों का संघ स्थापित हुआ। इसके साथ ही वहाँ के अन्य कारखानों में काम करने-वालों के भी श्रमिक-संघ स्थापित हुए। क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद आदि के विविध धंधों के मजदूरों का भी संगठन होता गया। अहमदाबाद का प्रसिद्ध श्रमिक संघ फरवरी १९२० में म० गाँधी ने स्थापित किया था।

इसी वर्ष मजदूरों का देशव्यापी संगठन भी हो गया। अखिल भारतवर्षीय ट्रेड-यूनियन-काँग्रेस का पहला अधिवेशन बम्बई में स्व० लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ। पीछे इसके अधिवेशन समय-समय पर होते रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ का प्रभाव—प्रथम योरपीय महा-युद्ध के बाद, सन् १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-संघ की स्थापना हुई। भारतवर्ष भी इसका सदस्य हुआ। अब अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलनों का भी प्रभाव भारतीय मजदूरों पर पड़ने लगा। इन सम्मेलनों में भारतीय मजदूरों के तथा मिल मालिकों के प्रतिनिधि नामजद करके भेजने का काम स्वयं भारत-सरकार करती थी। इन्हीं सम्मेलनों के प्रस्तावों के फल-स्वरूप यहाँ सन् १९२२ में कारखाना-कानून का संशोधन हुआ। इसके अनुसार प्रौढ़ तथा बालक मजदूरों के काम के घंटे निर्धारित किए गए और उनके काम करते समय चोट लग जाने पर उन्हें, तथा मर जाने पर उनके उत्तराधिकारियों को हर्जाना दिलाने की व्यवस्था की गई।

मजदूर-संघ कानून—इंगलैंड के मजदूर-दल के अनुरोध करने पर यहाँ सन् १९२६ में ट्रेड-यूनियन कानून बनाया गया। इसके अनु-सार जो यूनियन सरकार से रजिस्टरी करवा लेते, उनके सदस्यों पर यूनियन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए जानेवाले कार्यों के विषय में कानूनी कार्रवाई नहीं की जाती थी। अब मजदूर-संघों को हड़ताल करने का वैध अधिकार प्राप्त हो गया। [सन् १९३९ में रजिस्टरी किए हुए संघों की संख्या ७०० और उनके सदस्यों की संख्या ५ लाख तक

पहुँच गई। सन् १९४६-४७ में ये क्रमशः १७२५ और साढ़े तेरह लाख थे।]

राजनीतिक हड़ताल और दमन—सन् १९२६ तक मजदूर-आन्दोलन का ध्येय प्रायः वेतन-वृद्धि करवाना ही था; सुधारवाद का बोलबाला था। क्रमशः उनमें देश को आजादी की लड़ाई में भाग लेने की भावना बढ़ी। सन् १९२८ ई० में जब शासन-सुधारों के सम्बन्ध में साइमन-कमीशन बम्बई उतरा तो मिलों तथा रेल में काम करनेवाले मजदूरों ने राष्ट्रीय भावना के अनुसार उसके विरोध में काले झंडों से जोरदार प्रदर्शन किया और आम हड़ताल की। इससे सरकार का रोष बढ़ना स्वाभाविक था। उसने हड़तालों का नेतृत्व करनेवाले कम्यूनिस्ट नेताओं पर मुकदमे चलाए, और उन्हें जेल आदि की सजाएँ दीं। १९२९ में प्रसिद्ध 'मेरठ षड़यन्त्र केस' आरम्भ हुआ, यह चार साल तक चला। मजदूर नेताओं को भारी-भारी सजाएँ दी गईं।

मजदूर-आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने दो नए कानून भी बनाए!—'पब्लिक सेफटी आर्डिनेंस', और 'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट'। जिस समय ये भारतीय व्यवस्थापक सभा में पेश थे, सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने सभा-भवन में बम फेंककर इनके प्रति जनता का असन्तोष प्रकट किया था।

मजदूर-संगठन में फूट—कारखाना-मालिकों और सरकार की सख्तियाँ बढ़ने के साथ-साथ मजदूर-आन्दोलन में सुधारवाद और क्रान्तिवाद की खाई चौड़ी होती गई। सन् १९२९ में ट्रेड-यूनियन कांग्रेस का दसवाँ अधिवेशन श्री० जवाहरलाल जी नेहरू के सभापतित्व में, नागपुर में हुआ, तो दक्षिण पक्ष और बाम पक्ष में संघर्ष यहाँ तक बढ़ा कि श्री एन० एन० जोशी, दिवान चिमनलाल, और शिवराव आदि सुधारवादी नेता अलग हो गए और उन्होंने 'ट्रेड-यूनियन फेडरेशन' नाम से एक अलग ही संघ बना लिया।

ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस में और भी दो दल हो गए—कम्यूनिस्ट या

साम्यवादी दल, और राष्ट्रीय दल। कम्यूनिस्टों ने मजदूरों को यह समझाने की कोशिश की कि कांग्रेस के नेता पूँजिपतियों के एजंट हैं; मजदूरों को उससे अलग रहना चाहिए। पर वे इसमें सफल न हुए। आखिर, उन्होंने सन् १९३१ में अपनी अलग 'लाल ट्रेड-यूनियन कांग्रेस' बनाली। इस फूट के कारण मज़दूर आन्दोलन की शक्ति क्षीण हो गई, अब वे अपने ऊपर होनेवाली ज्यादतियों का यथेष्ट विरोध न कर सके। सन् १९३४ में बम्बई में जोरदार आम हड़ताल हुई पर वह सफल न हुई।

मज़दूर-संगठनों की एकता—इस वर्ष कांग्रेस-समाजवादी दल के जन्म की महत्वपूर्ण घटना हुई। इस दल ने मजदूरों को संगठित करने तथा उनमें आजादी की लड़ाई में भाग लेने की भावना बढ़ाने के लिए खूब आन्दोलन किया। क्रमशः मज़दूर संगठनों में एकता बढ़ने लगी। कम्यूनिस्टों ने कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करना छोड़ दिया और वह दल ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस में सम्मिलित हो गया। पीछे सन् १९३८ में ट्रेड-यूनियन-फेडरेशन भी ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस में शामिल हो गई। इस प्रकार मजदूर-संगठनों की पृथकता दूर होकर सब एक ही संस्था के अंग बन गए।

सन् १९३७ में, विविध प्रान्तों में कांग्रसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हो जाने से मज़दूरों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। जगह-जगह हड़तालें हुईं; सरकारी कमेटियों द्वारा मज़दूरों की दशा की जाँच कराई गई और उनके वेतन में कुछ वृद्धि हुई।

दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय—सन् १९३९ में दूसरा योरपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ, और ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष को उसकी राय लिए बिना ही युद्ध में शामिल कर दिया। इस पर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पद-त्याग किया। बम्बई के मज़दूरों ने इस युद्ध के विरोध में आम हड़तालें करके विराट प्रदर्शन किया। सन् १९४० के अन्त में म० गांधी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। परन्तु श्री०

एन० एन० राय आदि ने सरकारी सहायता के लोभ में फँस कर राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'लेबर फेडरेशन' नाम की अ० भा० मज़दूर संस्था कायम की। अगस्त १९४२ की जन-क्रान्ति के समय रूस मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हो चुका था। इसलिए कम्यूनिस्टों ने अब साम्राज्यवादी युद्ध को लोक-युद्ध कहते हुए जनक्रान्ति का विरोध किया। कांग्रेस के तथा कांग्रेस समाजवादी दल के प्रमुख नेता जेलों में बन्द थे, इससे मज़दूर आन्दोलन दो राष्ट्र-विरोधी दलों—'रायवादियों' और कम्यूनिस्टों—के हाथ में चला गया और बहुत कम-जोर हो गया। उसका अगस्त-क्रान्ति में बहुत कम भाग रहा। इसका कुछ कारण मजदूरों की इस समय को खुशहाली भी थी।

हिन्दुस्तान-मज़दूर-सेवक-संघ—जब कांग्रेस-जन तथा समाज-वादी कार्यकर्ता जेलों से छूटकर आए तो मज़दूर फिर उनके नेतृत्व में आने लग गए। सन् १९४६ में सरदार वल्लभभाई पटेल और श्री गुलजारीलाल नन्दा के नेतृत्व में 'हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक संघ' स्थापित किया गया। यह म० गांधी की इस नीति को मानता है कि पूँजीपति और मजदूरों के हित वास्तव में एक ही हैं, इसलिए इनके आपसी सम्बन्धों को अच्छा करने पर जोर दिया जाना चाहिए; हड़तालों या द्वारावरोध (तालाबन्दी) पर नहीं।

राष्ट्रीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस—युद्ध-काल में ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस पर कम्यूनिस्टों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसलिए मई १९४७ में राष्ट्रीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस स्थापित की गई। जो मजदूर-संघ 'हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक संघ' के प्रभाव में थे, वे अब इस नई संस्था से सम्बन्धित हो गए। इसका क्षेत्र तेजी से बढ़ता जा रहा है। केन्द्रीय सरकार ने इसे मज़दूरों का प्रतिनिधि मान रखा है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन के सानफ्रैंसिस्को-अधिवेशन में इसके अध्यक्ष श्री हरिहर-नाथ शास्त्री को मज़दूरों का प्रतिनिधि बना कर भेजा गया।

[इस संस्था पर सरकार का प्रभाव बहुत रहेगा, यह सोच कर

समाजवादी उससे अलग रहे; उन्होंने मज़दूर-संगठन का कार्य स्वतंत्र रूप से करने का निश्चय किया; दिसम्बर, १९४८ में उन्होंने 'हिन्द मजदूर सभा' का संगठन किया।]

मज़दूरों के हितों के रचनात्मक कार्य—शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, खाने-पीने के लिए शुद्ध पदार्थों की मितव्ययिता पूर्वक प्राप्ति, मद्य-निषेध, सुरुचिपूर्ण मनोरंजन आदि—की ओर बहुत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। आशा है, राष्ट्रीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस मज़दूरों का उचित नेतृत्व करेगी।

मज़दूरों के सम्बन्ध में बननेवाले कुछ कानूनों का उल्लेख पहले किया गया है। इस विषय की कुछ बातों का सिलसिलेवार विचार करना उपयोगी होगा।

कारखानों का कानून—कारखानों के दोष दूर करने के लिए उनका पहला कानून सन् १८८१ में पास हुआ था। इसका संशोधन सन् १८९१ में और फिर सन् १९११ में हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-कान्फ्रेन्स के मन्तव्यों के अनुसार सन् १९२२ में इसमें कुछ संशोधन हुआ। इसके बाद सन् १९२३ और १९२४ में भी कुछ सुधार हुआ। सन् १९२९ में मज़दूरों की दशा की जाँच के लिए एक शाही कमीशन नियत हुआ था। उसकी कुछ सिफारिशों का ध्यान रखते हुए भारतीय व्यवस्थापक सभा ने सन् १९३४ में एक कानून बनाया, जिसमें पुराने कानून का समावेश कर दिया गया। सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार अप्रैल १९३७ से प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना हुई। सन् १९३७-३९ में बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और संयुक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकारों ने जाँच कमेटियाँ नियुक्त कीं और उनकी कितनी ही सिफारिशों पर अमल किया गया।

सन् १९३८ में केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने इस आशय का कानून बनाया कि १५ वर्ष से कम आयु के बालकों से रेलों या जहाजों के यातायात-कार्य में मज़दूरी न कराई जाय। अगले वर्ष कुछ चीजों के

कारखानों में बारह वर्ष से कम आयु के बालकों से काम न लिए जाने का नियम किया गया।

स्वतंत्र भारत में, सन् १९४८ में नया कारखाना-कानून बनाया गया है। यह उन सभी कारखानों में अमल में लाया जायगा, जहाँ दस या इससे अधिक मजदूर काम करते हों और बिजली की शक्ति से काम लिया जाता हो; अथवा बीस या इससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, चाहे चालक शक्ति का उपयोग होता हो या न होता हो। हरेक मजदूर के लिए नए कारखाने में कम-से-कम ५०० घन फुट और पुराने में ३०० घन फुट जगह देनी होगी। उनके पीने के लिए ठंडे पानी का प्रबन्ध करना होगा। धूप, रोशनी, हवा और सफाई की व्यवस्था करनी होगी। जवान मज़दूर प्रति सप्ताह ४८ घंटे काम करेंगे, परन्तु बालकों से प्रति दिन साढ़े चार घंटे से अधिक काम नहीं लिया जायगा। १३ वर्ष से कम उम्र के बालकों से मजदूरी नहीं कराई जानी चाहिए।

इस कानून को 'मजदूरों का अधिकार-पत्र' कहा गया है। श्रम-मंत्री श्री० जगजीवन राम ने एक ओर मजदूरों को अपने अधिकारों के साथ कर्तव्यों को भी समझने का अनुरोध किया है, दूसरी ओर उद्योग-पतियों को चेतावनी देते हुए कहा है कि यदि उन्होंने मज़दूरों को अपने जैसा ही मनुष्य समझना शुरू नहीं किया तो वे अपने सर्वनाश को आमंत्रित करेंगे।

खानों के मजदूर—अधिकतर खानों में मजदूरों को ज़मीन के अन्दर तथा बहुत नीचे काम करना होता है। कोयले की खानों में आग लगने की बहुत आशंका रहती है। कुछ खानों में किनारे पर पानी निकलता है, और इससे वहाँ बहुत सील रहती है। सूर्य का प्रकाश तो खानों में जा ही नहीं पाता। छोटी खानों में ताजी हवा आने-जाने का प्रबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार मजदूरों का स्वास्थ्य जल्दी बिगड़ जाता है। सन् १९२३ का खान-कानून सन् १९३५ में संशोधित हुआ, उसके द्वारा कुछ बातों का सुधार होने में सहायता मिलती है।

खानों में कुल मिलाकर लगभग चार लाख मजदूर काम करते हैं। इनमें से दो-तिहाई कोयले की खानों में काम करते हैं। इनकी जाँच के लिए सरकार ने सन् १९४७ में एक समझौता-बोर्ड नियुक्त किया था। उसकी खासकर मजदूरी और मँहगाई सम्बन्धी सिफारिशों पर अमल किया जाने लगा था। पीछे प्रोविडन्ट फंड और बोनस के विषय में कानून बन गया। इसके अनुसार मजदूरों को नौकरी छोड़ने पर या बुढ़ापे के समय में एक खास रकम मिल जायगी, जो उन्हें भूख और भिखमंगी से बचाएगी।

बीमा-योजना—कुछ समय से मज़दूरों का बीमारी-बीमा विचाराधीन था। योजना यह थी कि कुछ रकम सरकार दे, कुछ रकम कारखानों के मालिक, और कुछ स्वयं मजदूर लोग दें। इस प्रकार बनाए हुए कोष से मज़दूरों को बीमारी के समय सहायता दी जाय, जिससे उन्हें उस समय आर्थिक कठिनाई विशेष न हो। अक्तूबर सन् १९४८ में मजदूरों के लिए सरकारी बीमा योजना बनी है। इससे कम-से-कम बीस लाख मजदूर लाभ उठावेंगे। इसके अन्तर्गत केवल संगठित उद्योगों में काम करनेवालों के स्वास्थ्य और चिकित्सा का ही आयोजन किया गया है। धीरे-धीरे इसका क्षेत्र बढ़ाया जायगा।

दस्तकारियों का पुनरुद्धार—हमने अब तक प्रायः कल-कारखानों में ही काम करनेवाले मजदूरों के बारे में विचार किया है। बहुत से सज्जनों का मत है कि श्रमजीवियों का असली हित तभी होगा, जब वे कल कारखानों में दासता का जीवन न बिताकर, प्राचीन काल की तरह स्वतंत्र रूप से श्रम करनेवाले हों अर्थात् बड़ी-बड़ी मशीनों वाले कल-कारखानों को न बढ़ा कर, छोटी मात्रा की उत्पत्ति या दस्तकारियों में लगें; इससे श्रमजीवी अपने घर में, अपने परिवार के आदमियों के साथ सुखपूर्वक रहेगा; वह मद्यपान, विलासिता आदि के प्रलोभनों में फँसने से बचेगा। उसका शरीर तन्दुरुस्त होगा और उसकी आत्मा भी बलवान होगी। इसके अलावा, देश में धन का समान वितरण होने में सहायता

मिलेगी; राष्ट्र उन व्याधियों से बचा रहेगा, जो कुछ थोड़े से आदमियों के बहुत ज्यादह धनवान, और असंख्य आदमियों के रोटी कपड़े से भी मोहताज, होजाने से होती हैं।

हाथ की कताई-बुनाई—दस्तकारियों में हाथ की कताई-बुनाई का काम मुख्य है। कपड़े की आवश्यकता सब को होती है। यदि आदमी अवकाश के समय में इस आवश्यकता को पूरी कर लिया करें तो वे एक हद तक स्वावलम्बी हो सकते हैं। इससे यह भी लाभ होगा कि देश की बहुत-सी रकम न तो विदेशी मिल-मालिकों के पास जायगी, और न उन देशी पूँजीपतियों को ही मिलेगी, जो विदेशों से मशीनरी या दूसरा सामान मँगाते हैं, और उनसे माल पैदा करके खूब मुनाफा कमाते हैं, और ऐयाशी का जीवन बिताते हैं।

राष्ट्रीय जागृति में खादी के धंधे के पुनरुत्थान की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसका विशेष संगठित प्रयत्न सन १९२५ ई० से हुआ, जब कि म० गाँधी की प्रेरणा से यहाँ अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ की स्थापना हुई। स्थान-स्थान पर इसके सैकड़ों खादी के केन्द्र हैं। इस धन्धे द्वारा अनेक जुलाहों, बढ़ई, लुहार, रंगसाज़ और व्यापारियों आदि को काम मिल रहा है। ग्राम-संगठन का भी अच्छा कार्य हो रहा है।

अन्य उद्योग-धंधे; ग्राम-उद्योग-संघ—अन्य उद्योग-धंधों की ओर, आवश्यक जानकारी प्राप्त करके, काँग्रेस ने सन् १९३४ के अन्त में ध्यान दिया। वर्धा (मध्यप्रान्त) में 'अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में हुई। इसका उद्देश्य है—ग्रामों का पुनःसंगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, तथा उनमें आवश्यक सुधार करना और ग्राम-निवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। संघ की संरक्षकता में ये ग्रामोद्योग या इनके प्रयोग चल रहे हैं—१—धान से चावल निका-

लना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना ८—दूधशाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कम्बल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज बनाना, १६—चटाई बनाना, १७—कंघियाँ बनाना, १८—चाकू, कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, —२०पत्थर का कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशो का उपयोग करना, चमड़ा तैयार करके उसकी तरह-तरह की चीजें बनाना।

बेकारी का हाल—अभी दूसरे उन्नत औद्योगिक देशों से भारत वर्ष बहुत पीछे है। तो भी यहाँ बेकारी काफी है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि जिस काम को करने के लिए पहले साधारण तौर से सौ-सवा-सौ आदमियों की आवश्यकता होती थी, उसे पूँजीपति अब मशीनों की सहायता से केवल आठ-दस आदमियों से करा लेते हैं; बाकी आदमी बेकार हो जाते हैं। कुछ लोग इसका हाल यह बतलाते हैं कि मशीनों का उपयोग कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के स्वार्थ के लिए न हो, सब आदमी उनसे थोड़े-थोड़े घण्टे काम करके अपना जीवन-निर्वाह कर सकें; इससे मनुष्यों को अपनी मानसिक उन्नति आदि के लिए अधिक अवसर मिलेगा। परन्तु हमारे यहाँ इतने साधन और पूँजी नहीं है, जो इतनी मशीनें चालू कर सकें! फिर मशीनें अधिकतर विदेशों से आती हैं, और इस विचार से वे हमें औद्योगिक उन्नति में परावलम्बी रखती हैं। इसके अलावा, मशीनों को काम देने से तो मनुष्यों की बेकारी और भी बढ़ेगी, न कि घटेगी। हमें अपने सामने उन देशों की परिस्थिति नहीं रखनी चाहिए, जहाँ जनसंख्या कम है; हमारे देश में तो असंख्य आदमी काम चाहते हैं, न कि अवकाश। अस्तु, बेकारी दूर करने का दूसरा उपाय यह है कि घरेलू उद्योग-धंधों की उन्नति की जाय। खेती करनेवाले तो साल में कई महीने बेकार रहते हैं। ऐसे

समय में, उन्हें चाहिए कि अपनी सुविधानुसार खेती में तरकारी (शाक) आदि पैदा करें, मूँज या सन की रस्सियाँ बटें, टोकरी चटाई या मूढ़े बनावें, कपास ओटें, सूत कातें या कपड़ा बुनने आदि का काम करें। दस्तकारियों के सम्बन्ध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

रोजगार-केन्द्र—दूसरे महायुद्ध के समय यहाँ सेना में तीन लाख की जगह पचीस लाख आदमी हो गए थे। इसके अलावा युद्ध सम्बन्धी उद्योगों, खानों, रेलवे वर्कशाप आदि में लगभग दो करोड़ आदमी काम करते थे। युद्ध समाप्त होने पर इनमें से बहुत से आदमी बेकार हो गए। उन्हें काम देने के लिए, अगस्त १९४७ से यहाँ सरकार की ओर से ५३ रोजगार-केन्द्र काम कर रहे हैं। दिल्ली में एक केन्द्रीय, तथा विविध प्रान्तों में एक-एक प्रान्तीय रोजगार केन्द्र हैं। मद्रास में प्रान्तीय सरकार के नियंत्रण में जिला रोजगार-केन्द्र भी हैं। देश के विभाजन के बाद, खासकर पंजाब में हिन्दू-मुसलिम उपद्रवों के कारण शरणार्थी समस्या ने विकट रूप धारण किया। उसे हल करने के लिए पूर्वी पंजाब के प्रत्येक जिले में रोजगार-केन्द्र स्थापित किए गए। यह विचार किया गया है कि इन संस्थाओं का कार्य-विस्तार करके इन्हें सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ कर दिया जाय। आवश्यकता है कि ये संस्थाएँ स्थायी बनादी जायँ; और हरेक जिले में एक-एक रोजगार केन्द्र हो, जो लोगों को ऐसा काम दे, जिसके वे उपयुक्त हैं।

उद्योग-धंधों की उन्नति और सरकार—उद्योग-धन्धों की वृद्धि के बारे में हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में खुलासा लिखा है। घरू और छोटे उद्योग-धन्धों की उन्नति के मुख्य उपाय ये हैं—औद्योगिक शिक्षा, औद्योगिक सम्मेलन, औद्योगिक प्रदर्शनी या नुमायश, तैयार माल खरीद कर प्रोत्साहन देना। इन कामों में जनता और सरकार दोनों के सहयोग की ज़रूरत है। बड़े उद्योग धन्धों में एक मुख्य प्रश्न पूँजी का रहता है। सरकार उसके लिए बाजार दर से कम व्याज पर रुपया उधार दे सकती है, या कुछ ऐसी रकम दे सकती है, जिसे

पीछे वापिस न ले, या उसके बदले उतनी कीमत का तैयार माल ले ले। सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि कारखानेवालों को सरकार कुछ मशीनें किराए पर दे; कुछ अर्से तक किराया दे चुकने पर मशीनें कारखानेवालों की हो हो जायँ। अंगरेज सरकार ने ये बातें यहाँ बहुत कम कीं। प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद सरकार ने अनुभव किया कि युद्ध-काल में इंगलैंड से पूर्वी देशों में सामान पहुँचना कठिन होता है, और भविष्य में युद्ध होने की सम्भावना है हो। इसलिए उसने यहाँ कारखानों को प्रोत्साहित तो किया, परन्तु उन्हें 'टैरिफ़' (आयात-निर्यात-कर)-नीति से इस प्रकार नियंत्रित रखा कि भारत सदा इंगलैंड पर निर्भर रहे, स्वावलम्बी न हो। हाँ, सन् १९३७-३९ में जिन प्रान्तों में कांग्रेस का शासन रहा; वहाँ प्रान्तीय सरकारों ने औद्योगिक उन्नति और मज़दूरों के कुशल क्षेम की ओर भरसक ध्यान दिया।

सन् १९३९ से दूसरा योरपीय महायुद्ध शुरू हो गया। भारत-सरकार ने युद्ध-उद्योग के लिए कुछ कारखाने स्वयं चलाए और कुछ के लिए उसने भारतीय उद्योगपतियों को अमरीका आदि से मशीनें मंगाने की सुविधाएँ दीं। युद्ध से पैदा होनेवाली कठिनाइयों के कारण उस समय यहाँ विदेशी पूँजी विशेष नहीं आ सकी। इसलिए जो नए कारखाने खुले, उनमें अधिकांश पूँजी भारतीय व्यवसाइयों ने ही लगाई, पर उन्हें सरकार का यथेष्ट सहयोग न मिला। सरकार ने यहाँ के कारखानों का माल उसी दशा में खरीदा, जब कि वह ऐसा करने के लिए मजबूर हुई। इससे यद्यपि कुछ धंधों की उन्नति हुई। औद्योगिक विकास जैसा होना चाहिए था, नहीं हुआ।

उद्योग धन्धों का राष्ट्रीकरण—देश में उद्योग-धंधों के राष्ट्रीकरण की माँग बढ़ती जा रही है। राष्ट्रीकरण का अर्थ यह है कि उन्हें राष्ट्र का बना दिया जाय। उनका संचालन, प्रबन्ध, सरकार करे, और वह उनकी मालिक हो। जो उत्पादन हो उसका वितरण सरकार द्वारा हो। कल कारखानों के मालिकों तथा पूँजीपतियों की मुनाफ़ेखोरी

से इस माँग को खूब बल मिल रहा है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि सरकार का स्वामित्व होने से हरेक उद्योग-धंधा अधिक लोकहितकर हो जायगा। उदाहरण के लिए रेलें राष्ट्रीय होने पर भी कैसी असंतोष-प्रद अवस्था में हैं। स्थिति सुधर रही है, तथापि यह उदाहरण शिक्षाप्रद है। फिर, अभी सरकार की आर्थिक स्थिति, योग्यता और अनुभव का उपयोग दूसरे ही कामों के लिए बहुत आवश्यक है। इधर, उद्योगपति भी नहीं चाहते कि वे पूँजी लगा कर उद्योग खड़ा करें और कुछ समय पश्चात् उनका राष्ट्रीकरण हो जाय। इस प्रकार देश बहुत संकटापन्न परिस्थिति में है। सरकार ने पूँजीपतियों को आश्वासन दिया है कि अभी—कम-से-कम दस वर्ष—वह उद्योग धंधों का राष्ट्रीकरण नहीं करने वाली है। कल-कारखाने वालों को चाहिए कि लोक-हित और स्वार्थ-त्याग की भावना से काम लें, अन्यथा सरकार जनता की बढ़ती माँग की बहुत समय उपेक्षा न कर सकेगी, और उसे राष्ट्रीकरण की दिशा में बढ़ना ही पड़ेगा।

आर्थिक पुनर्निर्माण—अभी तक देश में उत्पादन-कार्य, समाज की आवश्यकताओं का विचार न कर, मुनाफे की दृष्टि से किया जाता रहा है। उद्योगपति अपनी पूँजी ऐसे ही काम में लगाते हैं, जिससे उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस प्रकार उत्पादन, बिना किसी उचित व्यवस्था के, मनमाने ढंग से होता है। धनी या शौकीन लोगों को तो अनेक प्रकार के विलासिता के पदार्थ मिल जाते हैं, और सर्वसाधारण की जीवन-रक्षक पदार्थों की भी आवश्यकता पूरी नहीं होती। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि पहले जनता की रोजमर्रा की ज़रूरतें पूरी की जायँ। साथ ही साधारण श्रेणी के मनुष्यों की भी आर्थिक दशा अच्छी हो, उनमें अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदने की शक्ति हो।

उन्नति की राष्ट्रीय योजना—देश की आर्थिक उन्नति के लिए गत वर्षों में यहाँ कई योजनाएँ बनाई गईं। काँग्रेस द्वारा स्थापित राष्ट्रीय

योजना (नेशनल प्लैनिङ्ग)-कमेटी ने सन् १६३६-४१ में श्री० पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक विशाल योजना का काम किया। भारतवर्ष की राजनैतिक बाधाओं ने उसे पूरा न होने दिया। अब भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया है, और उक्त समिति के अध्यक्ष श्री० नेहरू जी ही इस समय केन्द्रीय सरकार के प्रधान मंत्री हैं। अतः इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें जान लेना आवश्यक है।

इस योजना के अनुसार दस वर्ष बाद प्रत्येक व्यक्ति का जीवन इस प्रकार का होगा कि उसे यथेष्ट मात्रा में स्वास्थ्यप्रद और पौष्टिक भोजन मिले। [वैज्ञानिक भाषा में उसे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन आदि उचित मात्रा में मिलें। उस खुराक में कम-से-कम २४०० केलरी (ताप-मान) हों]। हरेक व्यक्ति को ३० गज कपड़ा प्रतिवर्ष मिले। रहने के लिए उसे कम-से-कम सौ वर्ग फुट स्थान और प्रतिदिन २५ गेलन पानी मिले। मकान में रोशनी का प्रबन्ध हो। प्रत्येक आदमी के लिए बुनियादी शिक्षा का प्रबन्ध हो, साथ ही उसके शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रखा जाय। इसके अतिरिक्त डाक, टेलीफोन, रेडियो, बीमा, बैंक, अस्पताल, होटल आदि आधुनिक सुविधाओं की भी व्यवस्था हो।

इस योजना की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार काम करना होगा। मुफ़्तखोरी का बहिष्कार किया जायगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मानसिक, शारीरिक योग्यता, रुचि और शिक्षण के अनुसार उचित और पर्याप्त आमदनी वाला काम देना राज्य का कर्तव्य होगा। विद्यार्थी, बूढ़े, अपाहिज, रोगियों को राज्य की ओर से सहायता मिलेगी। कर्मचारियों की श्रम-समितियां होंगी। प्रत्येक कर्मचारी को किसी-न-किसी समिति का सदस्य बनना होगा। इन समितियों में परस्पर स्पष्ट सम्बन्ध होगा और उद्योग सम्बन्धी राज्य-कार्य में इन समितियों की सम्मति ली जायगी।

इस समय अस्सी प्रतिशत मनुष्यों का निर्वाह खेती द्वारा होता है।

दस वर्ष बाद केवल ५० प्रतिशत लोगों का निर्वाह खेती से होगा, २५ प्रतिशत का उद्योग-धन्धों द्वारा और शेष २५ प्रतिशत का व्यापार-व्यवसाय और सरकारी नौकरियों द्वारा।

इस योजना के अलावा और भी कई योजनाएँ बनी थीं। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की भी योजनाएँ थीं। यहाँ केवल दो योजनाओं की संक्षिप्त रूप रेखा दी जाती है—

टाटा-बिड़ला योजना— इस योजना को भारतीय उद्योग-पतियों ने बनाया था। इसमें पन्द्रह साल के लिए दस हजार करोड़ रुपए की आवश्कता बताई गई थी—उद्योग-धंधे, ४४८० करोड़; खेती, १२४० करोड़; यातायात (रेल सड़क आदि), ६४० करोड़; स्वास्थ्य, ४५० करोड़; मकान आदि, २५०० करोड़; विविध, २०० करोड़। इसका मुख्य लक्ष्य पूंजीपतियों की उन्नति थी, यों इसमें खेती और ग्रामोद्योगों की चर्चा अवश्य की गई थी। इस योजना का उद्देश्य हरेक व्यक्ति की औसत आमदनी पंद्रह साल में तीन गुनी करना था। इसमें बताया गया था कि युद्ध से पहले के बाजार-भाव को आधार मान कर यह आमदनी हर साल १३५ रुपया होगी; और देश की कुल राष्ट्रीय उपज होगी ६६०० रु० जो कि युद्ध-पूर्व से तीन गुनी है।

गांधी-योजना— श्री० श्रमन्नारायण अग्रवाल एम० ए० ने महात्मा गाँधी के लेखों और पुस्तकों का अध्ययन करके तथा खुद महात्मा जी से घंटों विचार-विनिमय करके एक 'गाँधी योजना' तैयार की। इस योजना के चार आदर्श थे—सादगी, अहिन्सा (शोषण न होना), शारीरिक श्रम का गौरव, और मानवी गुणों के आधार वाली देहाती सभ्यता। इसकी धुरी किसान और देहाती कारीगरी थी। इसलिए सब से अधिक महत्व खेती को दिया गया था, उसके बाद ग्रामोद्योगों की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। योजना में कहा गया है कि ग्रामोद्योगों का सङ्गठन सहकारी समितियों द्वारा किया जाय, जिससे उनमें पूंजीपतियों को स्थान न रहे। देश की आर्थिक रचना में बिजली,

यातायात, लोहे और कोयले के धंधे आदि बुनियादी उद्योगों को भी उचित स्थान दिया गया है। लेकिन यह साफ़ कर दिया गया था कि इन उद्योगों का सञ्चालन राज्य करेगा; पूँजोपति नहीं। उनकी व्यवस्था राष्ट्र के हित के लिए की जायगी, धनवानों के फायदे के वास्ते नहीं। इस योजना में शिक्षा; स्वास्थ्य और अनुसंधान आदि का भी समावेश था। इस योजना का आदर्श ग्राम्य सभ्यता होने के कारण इसमें ग्राम-पंचायतों या ग्राम-संघों की स्थापना पर बहुत ज़ोर दिया गया था।

कम-से-कम मज़दूरी या जीवन-वेतन--प्राय. वेतन या मज़दूरी देनेवाले इस बात का विचार नहीं करते कि किसी मज़दूर को कितने धन की जरूरत होती है। ज्यादातर मालिक केवल यह सोचते हैं कि कम-से-कम कितने पैसे देने से उनका काम निकल सकता है; उतने पैसों से मज़दूरों का भरण-पोषण हो या न हो। ऐसी स्थिति में, सन् १९३५ ई० में, म० गांधी की प्रेरणा से अखिल भारत-ग्राम उद्योग-संघ और चर्खा-संघ ने मज़दूरों के न्यूनतम वेतन निर्धारित करने का विषय उठाकर सचमुच बड़े साहस का काम किया। इन संस्थाओं ने पहले आठ-घंटे की दैनिक मज़दूरी कम-से-कम तीन आने देनी आरम्भ की, और इसे धीरे-धीरे आठ आने तक बढ़ाने का विचार किया। कुछ लोगों को यह दर बहुत ही कम जची। पर वे भूल गए कि अनेक स्थानों में स्त्रियों को, तथा लड़कों को प्रति दिन डेढ़-दो आने ही मिलते थे, और देश में अनेक बेकार आदमी काम की खोज में रहते थे, उन्हें उस समय इतना भी नहीं मिल पाता था।

श्री० किशोरीलाल मश्रूवाला का मत है कि एक बालिग पुरुष के हर रोज औसतन ७ घंटे, और बालिग स्त्री के हर रोज़ औसतन ५ घंटे काम करने पर उन्हें एक आदमी के साधारण अच्छी तरह निर्वाह योग्य व्यय का क्रमशः तिगुना और दुगना वेतन मिलना चाहिए। बात यह है कि आम तौर पर किसी देश की जनसंख्या का चालीस फी-सदी हिस्सा काम करनेवाली जनता मानी जाती है; अथवा, एक औसत

परिवार पाँच आदमियों का माना जाता है, जिनमें से दो कमानेवाले होते हैं, और तीन उनके आश्रित। स्त्री को आम तौर पर आदमी से कम मज़दूरी मिलती है। पर यह न्याय की बात नहीं है; उसका काम पुरुष से न तो हलका ही है, और न कम ही है। इस तरह दो आदमियों को ५ आदमियों की सभी उचित मांगों की पूर्ति के योग्य वेतन मिलना चाहिए। यदि हम रविवार, त्योहार, बीमारी तथा आकास्मिक (इत्तफाकिया) छुट्टियों की गणना करें तो क्रमशः ७ तथा ५ घंटे हर रोज का औसत क्रमशा नौ और साढ़े छः घंटे प्रतिदिन काम करने से पड़ता है। इस तरह हरेक आदमो को दो घंटे के हलके परिश्रम अथवा एक घंटे के कड़े परिश्रम के बाद पूरा भोजन प्रात करने का अधिकार होना चाहिए। उसके काम के बाकी घंटे भोजन के अतिरिक्त अन्य आवश्यता-ओं के लिए, तथा उसके आश्रितों के वास्ते किए जानेवाले परिश्रम के लिए, माने जाने चाहिएँ।

सरकार और कम-से-कम मजदूरी—फरवरी १९४८ में केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानून बनाया है, उसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को खास-खास उद्योगों में कम-से-कम मजदूरी निर्धारित करने तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार रहेगा। कुछ उद्योग तो निश्चित कर लिए गए हैं। प्रान्तीय सरकारों को इनमें अन्य उद्योग सम्मिलित करने का अधिकार दिया गया है। इस क़ानून का क्षेत्र व्यापक है, और यदि इसे अच्छी तरह अमल में लाया जाय तो देश की अर्थ व्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा। प्रान्तीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। आशा है, वे आधुनिक युग की इस माँग पर उदारता-पूर्वक विचार करेंगी।

औद्योगीकरण का नियंत्रण और विकेन्द्रीकरण—अभी यहाँ जनता के तरह-तरह के अभाव हैं। और, तो क्या, भोजन वस्त्र की भी यथेष्ट सामग्री यहाँ उपलब्ध नहीं हो रही है। इससे यहाँ औद्योगीकरण बढ़ाए जाने की ज़रूरत स्पष्ट है। परन्तु हमें यह बात याद

रखना चाहिए कि कल-कारखाने उन्हीं वस्तुओं के लिए बनावें, जो मशीनों के बिना तैयार नहीं हो सकतीं, और जो हों भी बहुत ही आवश्यक; अर्थात् फैशन या विलासिता आदि के लिए न हों।

मशीनें मानवजाति के इस समय तक के विकास का फल हैं। उनका व्यवहार सर्वथा बन्द करना उचित प्रतीत नहीं होता; हाँ, उनका नियंत्रण किया जा सकता है; साथ ही उनका दुरुपयोग भी रोका जाना चाहिए, जैसा कि उनके राष्ट्रीकरण से बहुत कुछ हो सकता है। हम विलासिता की वस्तुओं की उत्पति के विरुद्ध हैं—इसका यह आशय नहीं कि ये वस्तुएँ विदेशों से मँगा ली जाया करें। नहीं, हम चाहते हैं कि उनका उपयोग ही कम हो, जनता को ऐसी ही शिक्षा दी जाय, वे यथा-सम्भव संयमी हों और सादगी का जीवन बिताएँ।

औद्योगीककरण के नियंत्रण के साथ-साथ इस बात की भी बहुत आवश्यकता है कि हमारे यांत्रिक उद्योग गृह-उद्योग से यथेष्ट सम्बन्धित रहें, जिससे नगरों में घनी आबादी, अस्वास्थ्यकर जीवन, अधिक मृत्यु-संख्या, असमान वितरण अर्थात् आर्थिक विषमता न बढ़े; बिजली की चालक शक्ति गाँवों में पहुँचाई जाय, जिससे वहाँ के आदमियों का शारीरिक श्रम कुछ कम हो तथा उन्हें अपने-अपने निवास-स्थान में ही आजीविका का काम मिल सके। म० गाँधी ने ग्रामीण योजना को बहुत सुन्दर ढँग से प्रस्तुत करते हुए कहा था—"हमें अपनी सारी शक्ति देहात को आत्मनिर्भर बनाने पर ही केन्द्रित करनी चाहिए। देहात में उत्पादन केवल उपयोग के लिए हो। ग्राम-उद्योगों का यह आवश्यक लक्षण कायम रखते हुए देहाती ऐसी कलों का उपयोग कर सकते हैं, जिन्हें वे खुद बना सकें और उपयोग में ला सकें। शर्त इतनी ही है कि उसका उपयोग दूसरों को चूसने के लिए हरगिज न हो।"

छठा अध्याय
आर्थिक जागृति
(३) व्यापार

यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना - चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कह कर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के लिए जान देता है, उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन लगा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिएँ।

—सर्वोदय

भारतवर्ष की व्यापारिक अवनति—पहले कहा जा चुका है कि भारतवासियों ने शिल्प और उद्योग-धंधों की उन्नति, अन्य अनेक देशों की अपेक्षा बहुत पहले की थी। ईस्वी सन् के हजारों वर्ष पहले से लेकर अठारहवीं सदी तक भारतवर्ष, विदेशों में विविध बढ़िया और बहुमूल्य सामान भेजा करता था। चीन, ईरान, बेबिलन, मिस्र, जेनेवा और रोम आदि देश अपने वैभव के दिनों में भारतीय कारीगरी से ईर्षा करते थे, और इस देश से व्यापारिक सम्बन्ध बनाए रखने को लालायित रहते थे। उन्नीसवीं सदी से परिस्थिति पलटने लगी। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान की उन्नति, एवं कोयले और लोहे का उपयोग करके भाप की शक्ति से कल-कारखाने चलाने शुरू किए। इससे वहाँ के आदमी अपनी ज़रूरत की चीज़ें स्वयं तैयार करने लगे; यही नहीं, वे अपने कारखानों के लिए कच्चा सामान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष को अपना गोदाम समझने लगे। इधर भारतवर्ष पर इंगलैंड का प्रभुत्व स्थापित हो जाने से, लगभग सन् १८७० से

यह देश इंगलैंड के लिए प्रायः कच्चा माल निर्यात करनेवाला रह गया।

परिस्थिति में कुछ सुधार--सन् १८८५ ई० के लगभग परिस्थिति में कुछ सुधार होने लगा। उन्नीसवीं सदी के मध्य में यहाँ जूट और रूई की मिलें स्थापित होने लगीं थीं, उनकी बदौलत हमारे कच्चे पदार्थों के निर्यात और तैयार माल के आयात में वृद्धि होना रुक गया; पीछे, इनमें क्रमशः कुछ कमी होने लगी। यदि भारत सरकार अपनी व्यापार-नीति भारत-हित की दृष्टि से निर्धारित करने में स्वतंत्र होती तो इस दिशा में जल्दी ही यथेष्ट प्रगति हो जाती, परन्तु पराधीनता के कारण देश का अधिकांश आयात, तैयार माल का, और अधिकांश निर्यात कच्चे पदार्थों का, ही होता रहा है। अब भारतवर्ष स्वाधीन हो गया है, तो भी परिस्थिति एकदम यथेष्ट रूप से सुधरने वाली नहीं है। अस्तु, अब हम यह विचार करें कि गत वर्षों में भारत की व्यापार-नीति क्या रही है। व्यापार-नीति कहने से विदेशी व्यापार की ही नीति का आशय है।

पराधीनता-काल में व्यापार-नीति--अपने पराधीनता काल में भारत की कोई स्वतंत्र व्यापार-नीति नहीं रही है। उसे इंगलैंड की इच्छानुसार चलना पड़ा और बेहद हानि उठानी पड़ी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, जब इंगलैंड में अच्छा माल तैयार नहीं होता था, और वह संरक्षण-नीति का समर्थक था, तब उसकी उस नीति से भारत का तैयार माल वहाँ जाने से रुका, और यहाँ के उद्योग-धंधों का ह्रास हुआ। पीछे, जब वहाँ विविध प्रकार का तैयार माल बनने लगा तो उसने वहाँ तथा भारत में मुक्तद्वार-व्यापार-नीति चलाई। इससे भारतवर्ष में वहाँ का तैयार माल बेरोक-टोक आने लगा, और यहाँ की कारीगरी और व्यवसाय चौपट हो गया। आखिर, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद यहाँ आर्थिक जांच-कमीशन नियुक्त किया गया।

संरक्षण; और साम्राज्यान्तर्गत-रियायत-नीति—आर्थिक कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार भारत-सरकार ने यहां 'टरिफ़ बोर्ड' की स्थापना की, जिसमें भारतीयों को भी स्थान दिया गया। इस बोर्ड की सिफ़ारिशों के अनुसार क्रमशः लोहे, फ़ौलाद के सामान, कागज़, कपड़े, चीनी और सीमेन्ट को संरक्षण दिया गया, अर्थात् इन वस्तुओं की आयात पर ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी इन चीज़ों से सस्ती न रह जायँ, कुछ मंहगी ही हों। सन् १९२६ ई० में भारत में बननेवाले रुई के माल पर से कर उठा दिया गया। परन्तु बत्तीस वर्ष तक इस कर के लगे रहने से भारतीय वस्त्र व्यवसाय की जो भारी हानि हुई, वह तो हो ही चुकी। इसका इलाज करने की बात ब्रिटिश सरकार ने न सोची।

सन् १९३० ई० में इंगलैंड से आनेवाले रुई के सामान पर १५ प्रतिशत, और ग़ैर-ब्रिटिश अर्थात् अन्य देशों से आने वाले समान पर ५ प्रतिशत अधिक, अर्थात् २० प्रतिशत कर लगाया गया। पीछे यह कर इंगलैंड के माल पर २५ प्रतिशत और गैर-ब्रिटिश माल पर तीस प्रतिशत बैठाया गया। यह बात साम्राज्यान्तर्गत रियायत-नीति के अनुसार थी। इसका आशय यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य में जो देश हैं, वे आपसी व्यापार में खास रियायत करें, एक-दूसरे की आयात-निर्यात पर, गैर-ब्रिटिश माल की अपेक्षा, कम कर लगावें। ओटावा (कनाडा) में, सन् १९३२ में साम्राज्य-परिषद हुई, उसमें तीन वर्ष के लिए इस विषय का समझौता हुआ, परन्तु यह भारतवर्ष के लिए बहुत हानिकर था; इसका यहाँ घोर विरोध हुआ। बात यह है कि यहाँ से इंगलैंड और अन्य देशों को कच्चा माल जाता था, जिसकी आयात पर कोई औद्योगिक देश कर नहीं लगाता। इसलिए भारतवर्ष के माल को इंगलैंड या उसके उपनिवेशों में रियायत मिलने से इस देश को कोई लाभ नहीं था। अब भारतीय आयात की बात लीजिए। यहाँ दो-तिहाई से अधिक माल ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर से आता था, इस पर

अधिक कर लगाने से भारतीय जनता के लिए वह माल मंहगा हो जाता था, और देश को हानि होती थी। इस प्रकार साम्राज्यान्तर्गत रियायत की नीति से भारतवर्ष को कुछ लाभ नहीं रहा। भारतीय व्यवस्थापक सभा ने सन् १९३६ ई० में ओटावा के समझौते को रद्द करने का प्रस्ताव पास किया था, लेकिन भारत-सरकार ने उसे फिर मान लिया। वह १९३९ तक रहा। सन् १९३९ में भारत-सरकार ने आगे के लिए फिर समझौता कर लिया। इस समझौते को भी भारतीय व्यवस्थापक सभा ने स्वीकार नहीं किया था। वायसराय ने इसे अपने विशेषाधिकार से ही कानून का स्वरूप दिया था। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष से साम्राज्यान्तर्गत-रियायत-नीति के आधार पर व्यापार करने की बहुत अधिक इच्छुक रही। यह बात भारतवर्ष के लिए हानिकर हुई है। आवश्यकता थी कि सरकार संरक्षण-नीति का अवलम्बन करके समस्त विदेशी तैयार पदार्थों को आयात पर एवं यहाँ से बाहर जाने वाले कच्चे पदार्थों पर भी खूब कसकर कर लगाती, जिससे विदेशी माल के यहाँ बहुत अधिक मंहगा होजाने के कारण उसकी आयात कम होती, और स्वदेशी उद्योग धन्धों को उत्तेजना मिलती।

जापान और बरमा से समझौते — भारत और इंगलैंड का सन् १९३२ का ओटावा-समझौता जापान को बहुत नापसन्द रहा। उसकी अप्रसन्नता को दूर करने के प्रयत्न-स्वरूप सन् १९३४ और १९३७ में उससे समझौते किए गए; इसके अनुसार भारत ने जापान के कपड़ों के, और जापान ने भारत की रुई के आयात पर कर लगाने का निश्चय किया। इससे जापान में भारत की रूई की खपत की बाधा दूर हुई।

सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार वर्मा भारत से अलग किया गया, तब से ही भारत का उससे व्यापारिक समझौता होने की बात चली थी। समझौता सन् १९४१ में हुआ। उस समय युद्ध चल रहा था, इसलिए उस समझौते से विशेष लाभ न हुआ।

युद्ध और व्यापार—युद्ध के समय विदेशी माल का आयात

कम होता है। इसके अलावा उस समय सैनिक-सामग्री, रेल, जहाज, मोटर, हवाई जहाज, सैनिकों की वर्दी आदि की माँग बढ़ जाती है। इस प्रकार स्वदेशी माल के व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जबकि देश में यातायात के साधनों की कमी होती है, और अधिकतर रेल और मोटर-लारियाँ सैनिकों या सैनिक-सामग्री को ही लाने-लेजाने में लग जाती हैं तो व्यापारियों को अपना माल एक जगह से दूसरी जगह भेजने में बड़ी असुविधा हो जाती है, और देशी व्यापार बहुत रुक जाता है।

पिछले महायुद्ध का खास प्रभाव यहाँ सन् १९४१ के अन्त में पड़ने लगा। आयात कम होने से व्यापारियों ने चीज़ों के दाम बढ़ा दिए, और वे माल को रोकने लगे। तब सरकार ने कीमत-नियन्त्रण शुरू किया, नफाखोरी के विरुद्ध कानून बना कर कड़े दंड दिए, और राशनिंग तथा स्टैंडर्ड क्लाथ (कपड़े) की व्यवस्था की। बहुत से काम-धंधों के लिए लायसेंस लेना लाजमी कर दिया गया। इससे लायसेंस देनेवाले अफसरों की घूसखोरी बढ़ी, और जिन लोगों का प्रकट रूप से कोई रोज़गार न चला, उसमें से बहुत-सों ने चोर-बाजार चेतन किया। सरकार ने घूसखोरी और चोर-बाजार को बन्द करने की कोशिश की, परन्तु वह जनता का सहयोग न पा सकने के कारण इसमें प्रायः असफल रही। मध्य और नीचे की श्रेणी के आदमियों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा। अस्तु, सन् १९४२ से अधिकतर व्यापार, सरकार ने अपने हाथ में अथवा नियंत्रण में ले लिया। परन्तु इससे जनता का कष्ट न मिटा।

युद्ध की आड़ में सरकार ने यहाँ के व्यापारियों का बड़ा अहित किया। ब्रिटिश सरकार ने तटस्थ देशों से इंगलैण्ड का व्यापार बढ़ाने के लिए 'यूनाइटेड किंगडम कामर्शल कारपोरेशन' नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था का कार्यक्षेत्र पीछे भारत ही हो गया। यहाँ रिजर्व बैंक, रेलों तथा भारत-सरकार के सब अधिकारियों ने, जिला-मजिस्ट्रेट से लेकर 'सप्लाई' (रसद) विभाग के मेम्बर तक ने, इसे तरह-तरह की

सुविधाएँ दीं। यहाँ तक कि यह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ही दूसरा रूप बन गई। इसने गेहूँ, चावल, चीनी आदि भारतवर्ष से दूसरे देशों को भेजकर खूब नफा कमाया। इधर भारतवर्ष में ये चीजें बहुत कम रह गईं, और बहुत मँहगी हो गईं। इससे लोगों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा।

युद्ध और बैंक—देश के व्यापार का बैंकों से बहुत सम्बन्ध रहता है। योरप, अमरीका आदि जिन राज्यों में प्रधान केन्द्रीय बैंकों को नोट चलाने का भी अधिकार होता है, वहाँ के बैंक आवश्यकतानुसार नोटों या ऋण का परिमाण बढ़ा-घटा कर लोगों की क्रय-शक्ति (चीजें खरीदने की सामर्थ्य) को बढ़ा या घटा सकते हैं। इस प्रकार वे वस्तुओं के मूल्य का नियंत्रण करते हैं, और उसे बहुत-कुछ स्थिर रखते हैं। इससे व्यापार को बड़ा लाभ पहुँचता है। महायुद्ध से पहले भारतवर्ष में इम्पीरियल बैंक के अतिरिक्त एक्सचेंज (विनिमय)-बैंक, जायन्ट स्टाक (मिश्रित पूँजी)-बैंक तथा सहकारी बैंक थे। देश की विशाल जनता और क्षेत्र को देखते, ये बैंक बहुत कम थे। सन १९३४ में रिज़र्व बैंक की स्थापना हुई, इसे नोट चलाने का भी अधिकार है और इसके द्वारा वस्तुओं का मूल्य और सूद की दर का नियंत्रण होता है। परन्तु इस बैंक का सञ्चालन और नीति-निर्धारण भारतीयों के द्वारा न होकर लन्दन के बैंक-आफ़ इंगलैंड द्वारा होने से, इससे भारतवर्ष को विशेष लाभ न हुआ। सरकार ने मनमाने नोट निकाल कर मुद्रा-प्रसार किया। इससे यहाँ युद्धकाल में ही नहीं बहुत पीछे तक पदार्थों की बहुत मँहगाई रही।

युद्ध के समय बैंकों की खूब उन्नति हुई। बहुत से नए-नए बैंक खुल गए। पुराने बैंकों ने भी नई-नई जगह अपनी शाखाएँ बढ़ाईं।

स्वतन्त्र भारत की व्यापार-नीति—अब भारतवर्ष अपनी व्यापार नीति निर्धारित करने में स्वतंत्र है। पिछले दो वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में शान्ति और सामञ्जस्य की स्थापना के लिए जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें भारत ने भी भाग लिया है। इन प्रयत्नों का मुख्य

उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संस्था स्थापित करना है। इस संस्था का एक अधिकार-पत्र होगा, जिसमें आयात-कर कम करने तथा किन्हीं देशों का विशेष रियायतें बन्द करने की व्यवस्था रहेगी। अक्तूबर १६४७ में जिनेवा में भारत-सरकार ने आस्ट्रेलिया, चीन, फ्राँस, अमरीका, इंगलैंड और पाकिस्तान आदि छोटे-बड़े २२ राष्ट्रों से व्यापारिक समझौता किया। इसके अनुसार भारत ने उन्हें निर्धारित सिद्धान्तो पर आयात-कर सम्बन्धी रियायतें दी हैं। अब तक किसी देश विशेष से खास-खास बस्तुएँ मंगाने के विषय में भारत ने जो नीति अपना रखी थी, उसे शिथिल करके अन्य देशों को भी सुविधाएँ दी जायँगी।

पाकिस्तान से होनेवाला व्यापार—अगस्त १६४७ से पाकिस्तान का निर्माण हो जाने से उसके साथ होनेवाला भारतीय व्यापार भी विदेशी व्यापार माना जाता है। पाकिस्तान में कच्चा जूट, रूई, खाद्यान्न और नमक आदि की अधिकता है, इसके विपरीत वहाँ कोयले और लोहे की बहुत कमी है, इसलिए कपड़ा, ऊनी सामान, कागज, चीनी आदि तैयार माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह खासकर भारतीय संघ पर निर्भर है। मई सन १६४८ के समझौते के अनुसार ये दोनों राज्य एक दूसरे से निर्धारित आवश्यक वस्तुओं का आदान-प्रदान करते हैं।

व्यापारियों के लिए विचारणीय बातें—बहुत-से व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहकों को तरह-तरह से धोखा देते हैं। जैसा हमारे 'भारतीय अर्थशास्त्र' में कहा गया है, चीज कम तोलना, कपड़ा कम नापना, खराब चीज़ को अच्छी बताना तो मामूली बात है। माल ऊपर कुछ-और रहता है, तथा भीतर कुछ-और; संख्या में कुछ कमी करदी जाती है, या बीच में कुछ चीजें टूटी-फूटी या खराब रख दी जाती हैं। इन बातों से थोड़ी देर लाभ भले ही हो; अन्त में हानि ही होती है। सफलता वही है, जिसका आधार ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर, यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने द्रव्य जोड़

भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनन्दनीय कहेगा ! द्रव्य के कुछ लाभ के बदले यदि हमें चरित्र की हानि उठानी पड़ती है तो असल में हम घाटे में ही रहते हैं। हमारा कारोबार, हमारा व्यापार सब ऐसा होना चाहिए, जिससे हमारा विकास हो। द्रव्य की अपेक्षा मनुष्यत्व कहीं बढ़कर है, व्यापार मानवी गुणों के विकास का एक साधन मात्र है, स्वयं साध्य नहीं है। अतः व्यापार वही किया जाना चाहिए, जिसमें हमारा, समाज का, देश का, एवं मनुष्यमात्र का हित हो।

विदेशी व्यापार—भारतीयों को व्यापार-ज्ञान की बड़ी ज़रूरत है। उन्हें केवल कमीशन या दलाली लेकर निर्वाह करनेवाला नहीं होना चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि भारतवर्ष की आवश्यकता की कौन-कौन सी वस्तु कहाँ तैयार होती है, वे चीजें यहाँ किस प्रकार तैयार की जा सकती हैं, भारवर्ष का कौनसा पदार्थ संसार की दूसरी मंडियों में भेजना भारतवर्ष तथा विदेशों के लिए लाभकारी होगा। यहाँ केवल कच्चे माल के कुछ जहाज हर साल विदेशों को भेज देना और विदेशी माल यहाँ खपा देना, इस देश के लिए कितना हानिकारक है,यहाँ के उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए क्या-क्या साधन और परिस्थिति अनुकूल होगी।

आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारतवर्ष का विदेशों से व्यापार बढ़ता जा रहा है परन्तु इस व्यापार की वृद्धि से हमें लाभ है या हानि—यह सोचने की बात है। कारण, सिर्फ व्यापार के अंकों के बढ़ने से ही किसी देश की सुख-समृद्धि नहीं होती। सौ वर्ष पहले हमारा विदेशी व्यापार (आयात और निर्यात) प्रतिवर्ष कुल मिला कर लगभग पचीस करोड़ रुपए के माल का होता था। पीछे वह प्रायः बढ़ता ही रहा। यहाँ तक कि पिछले वर्षों में वह कभी-कभी छः सौ करोड़ रुपए से अधिक का हुआ है। पर किन्तु क्या अब भारतवासी पहले की अपेक्षा इस व्यापार-वृद्धि के अनुपात में अधिक

सुखी हैं !

आवश्यकता है कि हम अपने आयात और निर्यात की प्रत्येक वस्तु के विषय में सूक्ष्म जांच करें और विदेशी व्यापार यथा-सम्भव कम करें। देशी तथा विदेशी व्यापार-नीति सम्बन्धी विविध बातों का खुलासा वर्णन हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में किया है। यहाँ उन बातों को न दोहरा कर यही कहना है कि हमें व्यापार को एक सेवा-कार्य समझकर करना चाहिए। स्वदेशी व्यापार हमारे लिए अपने देश-भाइयों की सेवा का साधन हो, और विदेशी व्यापार में हम विश्वबंधुत्व का परिचय दें। दूसरों का शोषण करना, या अनुचित उपायों से धन संग्रह करना व्यक्तियों के लिए हानिकर है, और राष्ट्रों के लिए भी।

सातवाँ अध्याय

मानसिक जागृति

(१) शिक्षा

प्रत्येक निरक्षर और अशिक्षित व्यक्ति एक सामाजिक खतरा है। बिना शिक्षा के वास्तविक जनसत्तात्मक शासन असम्भव है।

— द्वारिकाप्रसाद मिश्र

प्राक्कथन—केवल अक्षर-ज्ञान ही शिक्षा नहीं है, यह तो उसका एक साधन है। शिक्षा का असली अभिप्राय मनुष्य की विविध शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक आदि शक्तियों का विकास है। किसी देश को शिक्षा की दृष्टि से जागृत तभी कहा जा सकता है, जब वहाँ साधारण शिक्षा सब को मिलती हो, देश के युवक और युवतियाँ उदार विचार वाले हों और वे भली-भांति जीवन-निर्वाह करते हुए देश-विदेश में अपने नागरिक अथवा मानवी कर्तव्यों को अच्छी तरह पालन कर सकें।

प्राचीन भारत में शिक्षा का काफी प्रचार था। गाँव-गाँव में एक पाठशाला होती थी, जिसका प्रबन्ध ज्यादातर गाँव की पंचायत करती थी। खास-खास जगहों में ऊँचे साहित्य आदि की शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ थीं, जो राज्य और धनी लोगों की सहायता से चलती थीं। इनके अलावा जगह-जगह गुरुकुल थे, जिनमें विद्वान लोग अपने-अपने स्थान में बालकों को अपनी सन्तान की तरह रखते और शिक्षा देते थे। मुसलमानों के यहाँ आने के बाद मसजिदों के साथ या स्वतंत्र रूप से बहुत से मकतब या मदरसे और कायम हो गए। इस तरह सार्वजनिक शिक्षा का क्रम जारी रहा। हाँ, पीछे जाकर राजक्रान्ति या भीतरी लड़ाइयों के कारण इस काम में बाधा होने लगी। शिक्षा-संस्थाओं के संगठन और सुव्यवस्था में बहुत दोष आगए।

अंगरेजी शिक्षा का प्रारम्भ—हमारे जागृति-काल की शिक्षा सम्बन्धी एक मुख्य घटना यहाँ अंगरेजी शिक्षा का प्रचार होना है। यह कार्य सब से पहले ईसाई पादरियों ने किया। इनका प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। इनकी संस्थाओं से जन-साधारण को देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने का रास्ता साफ हुआ। इन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भी सहायता मिली, जो उस समय यहाँ की सरकार थी। समाज-सुधारकों ने भी अँगरेजी शिक्षा के प्रचार में योग दिया। श्री० राजा राममोहनराय, तथा कलकत्ता के अन्य हिन्दू सज्जनों ने सन् १८१६ ई० में, एक लाख रुपए का चन्दा करके भारतीय विद्यार्थियों की, पूर्वी और पश्चिमी विद्याओं की, शिक्षा के लिए हिन्दू कालिज की स्थापना की। उनका उद्देश्य यह था कि भारतवासी पश्चिम के उन्नत देशों की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति जान लें, और वहाँ के कला-कौशल और विज्ञान का अध्ययन करें, जिससे यहाँ विविध सुधार आसानी से हो सकें।

सरकार की नीति—आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी यहाँ शिक्षा-प्रचार करने में उदासीन थी। इसके दो कारण थे। पहले तो

कम्पनी का उद्देश्य धन कमाना था, उसके हरेक काम में व्यापारिक नीति रहती थी। दूसरे, वह सोचती थी कि भारतवासी धर्म-प्रेमी हैं; ऐसा न हो कि कम्पनी के शिक्षा-कार्य से वे अपने धर्म पर आघात हुआ समझें, और, उसे उनके विद्रोह का सामना करना पड़े। आख़िर, जब ब्रिटिश पार्लिमेंट ने उसे शिक्षा की ओर ध्यान देने को मजबूर किया, तो उसने यहाँ इस देश की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली प्रचलित रखने में ही सहायता दी। सन् १७८१ ई० में, कलकत्ते में एक 'मदरसा' फ़ारसी को प्रोत्साहन देने के लिए खोला गया, जो कि उस समय अदालतों की भाषा थी। दस वर्ष पश्चात् बनारस में संस्कृत विद्यालय स्थापित किया गया। इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य यह था कि अंगरेजी जज़ों को दीवानी के मुक़द्दमों का फैसला करने में सहायता देने के लिए, हिन्दू और मुसलमानों के धर्मशास्त्र जाननेवाले तैयार हों।

सन् १८१३ ई० में, कम्पनी की सनद बदलनेवाले ब्रिटिश पार्लिमेंट के कानून से निश्चित किया गया कि प्रति वर्ष कम्पनी की ओर से एक रक़म जो एक लाख रुपए से कम न हो, अलग रखी जावे और वह शिक्षा की उन्नति में लगाई जावे। इस पर सन् १८२३ में स्थापित कमेटी ने देहली और आगरे में कालिज खोले, जिनमें अंगरेजी की भी क्लासें थी। सन् १८१६ ई० में मदरास में एक स्कूल और कुछ गाँवों की पाठशालाएँ खोली गईं। सन् १८३० ई० तक सरकार अपनी उपेक्षा को हटाकर शिक्षा-प्रचार की समर्थक हो गई; हाँ, वह इस कार्य में बहुत फूँक-फूँक कर पाँव रखती थी।

नीति-परिवर्तन के कारण—अब हमें यह विचार करना चाहिए कि इस परिवर्तन के क्या कारण थे। एक तो ईसाई पादरियों और राजा राममोहनराय आदि द्वारा जो शिक्षा-कार्य हुआ था, उसका जनता में विरोध नहीं हुआ, जिसकी सरकार को बहुत आशंका थी। दूसरे, कम्पनी को अपना कारोबार चलाने के लिए दफ़्तरों के

वास्ते कलर्कों की सख्त जरूरत थी। इँगलैंड से आदमी लाना कठिन था, और वह काम था भी बहुत खर्च का। कम्पनी ने सोचा कि यदि यहाँ शिक्षा ऐसी दी जाय कि वह क्लर्क बनाने में सहायक हो तो यहाँ खूब सस्ते नौकर मिल जाया करेंगे। तीसरी बात यह थी कि कम्पनी का मुख्य लक्ष्य व्यापार बढ़ाना था। उसे आशा थी कि अंगरेज़ी शिक्षा पाकर युवक फैशन-पसन्द या शौकीन होंगे, उनकी आवश्यकताएँ बढ़ेंगी, और वे हमारा सामान खूब खरीदेंगे।

मेकाले की कूटनीति—इन सबसे अधिक महत्व की बात एक और थी। अब तक के अनुभव से सरकार को मालूम हो गया था कि अँगरेज़ी पढ़े भारतीय युवक हमारे राज्य के विरोधी न होकर सहायक ही हो रहे हैं। देश में ऐसे आदमियों की संख्या जितनी बढ़ेगी, उतना ही राज्य अधिक जम सकेगा। सरकार के कानूनी सलाहकार मेकाले के यह शब्द बड़े मार्के के हैं, "हमें अपनी सारी शक्ति लगा कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें, जिसके आदमी हमारे, और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिए का काम कर सकें; जो जाति और रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा, और भावों में पूरे अँगरेज हों।"

यद्यपि भारतवर्ष में अंगरेजों के आधिपत्य का सूत्रपात पलासी की लड़ाई (सन् १७५७) से माना जाता है, वास्तव में यहाँ ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना करनेवाला मेकाले है। उसने इस शिक्षा-पद्धति को चला कर भारतीय नवयुवकों के हृदय पर ब्रिटिश प्रभुता की छाप लगाने का प्रयत्न किया। मेकाले इसमें बेहद सफल हुआ—यह तो इससे भली भांति सिद्ध हो जाता है कि अब सौ वर्ष से अधिक का समय बीत जाने पर, और भारतवर्ष के स्वाधीन हो जाने पर भी यहाँ अनेक युवकों में अंगरेजों की मानसिक दासता भरी हुई है। वे अपनी भाषा, भेष और भावों से अपने आपको अंगरेजों के मानस पुत्र घोषित कर रहे हैं।

हाँ, भारत के सौभाग्य से कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए मेकाले का दिया हुआ विष अमृत बन गया और वे भारतमाता को ब्रिटिश साम्राज्य के चंगुल से मुक्त करने में लगे रहे, और अन्त में विजयी हुए।

अंगरेज़ी और देशी भाषाओं का सवाल—अस्तु, पूर्वोक्त बातों के प्रभाव से अन्त में सन् १८३५ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंग की सरकार ने यह निश्चय कर लिया कि देशी भाषाएँ केवल प्रारंभिक शिक्षा के काम में लाई जावें, और ऊँची शिक्षा का माध्यम अंगरेज़ी भाषा हो। पहले कालिज के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति (वज़ीफ़ा) देने का प्रबन्ध था, वह इस वर्ष हटा दिया गया। हाँ, शिक्षा पाने के लिए विद्यार्थियों को अभी तक कोई फ़ीस नहीं देनी पड़ती थी। जब देश में शिक्षा पाने का उत्साह बढ़ चला तो फ़ीस भी लगादी गई; वही रीति अब तक चली आती है। सन् १८३७ ई० में फ़ारसी को हटाकर उर्दू सरकारी दफ़्तरों तथा अदालतों की भाषा बना दी गई। अंगरेज़ी भाषा की परीक्षाएं पास करके प्रमाणपत्र या सनद पाए हुए भारतवासियों को ऊँची सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। इन बातों ने अंगरेज़ी और उर्दू की शिक्षा को बढ़ाया, और संस्कृत तथा अर्बी फ़ारसी का प्रचार घटाया।

शिक्षा की प्रगति—सन् १८५३ ई० में कम्पनी की सनद बदलने का समय आया। अब तक शिक्षा-प्रचार की गति बहुत धीमी थी। अब पिछले बीस वर्ष के अनुभव से मालूम हुआ कि अंगरेज़ी शिक्षा ऐसे ढंग से दी जा रही है कि वह अंगरेजी राज्य को कमज़ोर न करके उसे मज़बूत ही बनाएगी। इसलिए निश्चय किया गया कि उसका प्रचार जितना अधिक हो सके, अच्छा है। बस, सन् १८५७ ई० में कलकत्ते, बम्बई, और मदरास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। सन् १८८२ ई० में एक शिक्षा-कमीशन ने सन् १८५४ ई० से अपने समय तक के शिक्षा-प्रचार के कार्य, और, इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों

के नियंत्रण की जांच करके प्रारम्भिक तथा ट्रेनिंग स्कूल खोलने आदि की सिफ़ारिश की।

सन् १९१० ई० से सरकार का अलग शिक्षा-विभाग स्थापित किया गया। सन् १९१३-१४ ई० से प्रति वर्ष सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित होती है, उसमें वर्ष भर के शिक्षा-कार्य की ब्योरेवार आलोचना रहती है। सन् १९१९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय-कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसके आधार पर बहुत से स्थानों में इंटरमीजियट (एफ. ए.) कालिज खोलकर इन क्लासों को विश्वविद्यालय से जुदा रखने की व्यवस्था की गई, तथा छात्रालय (बोर्डिंग) बढ़ाने, अध्यापकों को 'ट्रेन्ड' करने, एवं मुसलमानों का शिक्षा में उत्साह बढ़ाने की ओर ध्यान दिया गया। मुसलमान आरम्भ में बहुत समय तक अंगरेज़ी शिक्षा के विरुद्ध थे; उन्हें भय था कि इसे पाकर हम ईसाई हो जायँगे। अन्त में बहुत प्रयत्न करके, सर सैयद अहमदखां आदि सज्जनों ने उन्हें इसका लाभ और आवश्यकता समझाई। तब से मुसलमान इस शिक्षा को पाने की कुछ विशेष कोशिश करने लगे। इस समय उनके अंगरेजी शिक्षा में पीछे रहने का मुख्य कारण यही है कि वे इसे देरी में पाने लगे थे।

विश्वविद्यालय कमीशन और कानून—१८८२ में लाहौर का, और १८८९ में इलाहाबाद का विश्वविद्यालय कायम किया गया। सन् १९०२ में यूनिवर्सिटी-कमीशन बैठा, और १९०४ में यूनिवर्सिटी-कानून बना। विद्यार्थियों को राजनैतिक हवा से 'सुरक्षित' रखने के लिए विश्वविद्यालयों पर शासकों के अधिकार बढ़ा दिए गए; और स्कूलों और कालिजों के लिए कठोर और खर्चीले नियम बना दिए गए।

यूनिवर्सिटी-कानून ने विश्वविद्यालयों को शिक्षण-कार्य करने का भी अधिकार दिया; इसके पहले वे केवल परीक्षा लेते और शिक्षा-संस्थाओं को अपने से सम्बन्धित करते थे। इस कानून के बाद एम० ए० श्रेणी के साथ ही विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान के लिए पुस्तकालय और विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोगशालाएँ खोली गईं।

भारतवर्ष के विश्वविद्यालय—कलकत्ता, बम्बई, मदरास, लाहौर और इलाहाबाद के विश्वविद्यालय स्थापित होने की बात पहले कही जा चुकी है। सन् १६१८ में भारत-सरकार ने इस देश की शिक्षा-नीति पर अपना मन्तव्य प्रकाशित किया। उसमें ऐसे विश्वविद्यालय स्थापित करने की भी आवश्यकता बताई गई जो छोटे रूप में हों, परन्तु शिक्षण कार्य स्वयं अपने हाथ में लें। इसके कुछ ही समय पहले सन् १६१६ में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी आदि सज्जनों के उद्योग से बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कालिज में हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव डाली गई थी। सन् १६२० में अलीगढ़ के एंग्लो ओरिएंटल कालिज के आधार पर मुस्लिम विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। ये दोनों विश्वविद्यालय गैर-सरकारी और खासकर लोगों की निजी कोशिश से कायम हुए थे; वैसे इन्हें सरकारी सहायता भी मिली और मिलती रही। हैदराबाद का उसमानिया विश्वविद्यालय सन् १६१८ में स्थापित हुआ। इसने साहित्य छोड़ कर दूसरे सभी विषयों की पढ़ाई का माध्यम उर्दू रखा। इससे उर्दू में कई विषयों का ऊँचा साहित्य तैयार होने में बड़ी मदद मिली। [सन् १६४६ से शिक्षा का माध्यम उर्दू की जगह हिन्दुस्तानी की गई]। देशी रियासतों में सब से पहला विश्वविद्यालय मैसूर राज्य में सन् १६१६ में स्थापित हुआ था।

भारतीय-संघ में इस समय सब मिलाकर १६ विश्वविद्यालय हैं। कुछ और भी विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात चल रही है। ज्यादा-तर विश्वविद्यालय तो पाठ्यक्रम निश्चित करने और परीक्षा लेने का ही काम करते हैं। अनुसंधान या खोज का काम कम होता है। विश्व-विद्यालयों की पढ़ाई बहुत खर्चीली है। ऊँची शिक्षा पाना मामूली हैसियत के आदमी के वश की बात नहीं। कुछ राष्ट्रीय नेताओं का मत है कि विश्वविद्यालयों के खर्च में काफी कमी होनी चाहिए; इनका बहुत कुछ खर्च फीस और सार्वजनिक चन्दे और सहायता से निकल आना चाहिए, जिससे राज्य पर उनका विशेष भार न पड़े।

प्रारम्भिक शिक्षा--लार्ड रिपन की स्थानीय स्वराज्य की योजना का काम बढ़ने पर, सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा का कार्य म्युनिसपेलटियों और जिला-बोर्डों के सुपुर्द कर दिया। पर इन संस्थाओं को की आमदनी बहुत कम थी और स्कूलों के इन्स्पेक्टर आदि अफसरों का खर्च तथा बाहरी टीपटाप के नियम बहुत रहे। इसलिए कुछ खास उन्नति नहीं होने पाई। सन् १६११ में माननीय श्री० गोखले ने देश भर में प्रारम्भिक शिक्षा मुफ़ और लाज़मी (अनिवार्य) करने के लिए भारतीय व्यवस्थापक सभा में एक बिल (क़ानूनी मसविदा) पेश किया, लेकिन सरकार ने आर्थिक कठिनाइयों के आधार पर उसे स्वीकार न किया। पश्चात् १६१८ ई० से विविध प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों ने समय-समय पर प्रारम्भिक शिक्षा का क़ानून पास किया। प्रायः जो म्युनिसपेलिटियाँ इस शिक्षा के लिए एक-तिहाई ख़र्च देना स्वीकार करें, उन्हें शेष खर्च के लिए सरकारी सहायता मिलने लगी।

यह होने पर भी देश में शिक्षा का प्रचार बहुत कम हो पाया है। बारह-तेरह फी सदी आदमी ही लिख-पढ़ सकते हैं। पिछले दिनों भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर सर जान सार्जेंट ने शिक्षा-प्रचार की एक योजना बनाई थी, उसे आम बोलचाल में सार्जेंट-योजना कहते हैं। उसमें आठ वर्ष के लिए बिना फीस अनिवार्य शिक्षा की सिफ़ारिश की गई थी। अभी इस योजना के अनुसार काम शुरू नहीं हुआ है।

शिक्षा-सुधार के प्रयत्न--उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में लोगों का ध्यान अंगरेजी शिक्षा के दोषों की ओर गया। उन्होंने अनुभव किया कि अंगरेज़ी पढ़कर युवक शौक़ीन बन जाते हैं, और रहन-सहन आदि में अंगरेज़ों की नक़ल करने लगते हैं। आवश्यकता है कि वे सादगी से रहें, और भारतीय भाषा, भेष और भावों का आदर करें। इस विचार से जनता ने मोहमेडन कालिज, अलीगढ़; फ़र्ग्यूसन कालिज, पूना; डी० ए० वी० कालिज, लाहौर; और सेंट्रल हिन्दू

कालिज, बनारस; आदि कालिज, तथा इनसे सम्बन्ध रखनेवाले स्कूल खोले। ये सरकारी शिक्षा-विभाग से सम्बद्ध हैं और उसके द्वारा ठहराई हुई पाठविधि का उपयोग करते हैं। हाँ, इनमें धार्मिक शिक्षा आदि को विशेषता है। जहाँ-तहाँ कुछ आदमियों या संस्थाओं ने अपनी जाति या धर्म वाले विद्यार्थियों के लिए छात्रालय खोले। इनमें सदाचार और उचित खान-पान आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस समय की स्थापित, स्त्रियों को शिक्षा देनेवाली संस्थाओं में विशेष उल्लेखनीय कन्या महाविद्यालय, जालंधर; और अनाथ बालिकाश्रम, हिंगणा (पूना), हैं। पहले की स्थापित कन्या गुरुकुल, देहरादून, भी इसी प्रकार की संस्था है।

शिक्षा-सुधार का प्रयत्न संयुक्तप्रान्त, पञ्जाब, और महाराष्ट्र में ही हुआ। दक्षिण में ऐसा आन्दोलन न होने का कारण यह है कि वहाँ अङ्गरेज़ी शिक्षा का कुफल मध्य श्रेणी की जनता के सामने विशेष रूप से नहीं आया था, और प्राचीन सभ्यता का आदर्श बना हुआ था। बंगाल प्रान्त में, ब्रह्म समाज ने आरम्भ में ही भारतीय संस्कृति की भी अच्छी बातों के प्रचार करने का ध्यान रक्खा था। इस समाज का वहाँ के शिक्षित वर्ग पर अच्छा प्रभाव था। फिर, वहाँ कलकत्ता विश्वविद्यालय का संगठन भी ऐसा था कि शिक्षापद्धति में साधारण सुधार सहज ही हो जाते थे। इसलिए वहाँ भी सुधार-आन्दोलन या नवीन संस्थाओं की विशेष आवश्यकता न हुई।

राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ—सन् १८७५ ई० से सन् १६०० ई० तक स्थापित अर्द्ध-सरकारी या ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की गति-विधि देखने से मालूम होता है कि इस समय राष्ट्रीय शिक्षा शुरू हो गई थी। इस बीच में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का भी जन्म हो चुका था। राष्ट्रीय जागृति आरम्भ हो जाने पर लोगों ने सोचा कि सरकार ने शिक्षा को इतना मंहगा बना रखा है कि वह साधारण स्थिति के मनुष्यों की पहुँच से बाहर है। फिर, सरकारी नियंत्रण वाली संस्थाओं

में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में दासता के भाव रहते हैं, उनसे स्वतंत्रता, स्वदेश-प्रेम के प्रचार की आशा नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी संस्थाओं की स्थापना का विचार होने लगा, जो सरकारी नियंत्रण से बरी रहें, राष्ट्रीय भावों वाली हों, और देश की सभ्यता की रक्षा करनेवाली तथा औद्योगिक आवश्यकताएँ पूरी करनेवाली हों।

सन् १९०५-६ ई० में बंगाल के दो टुकड़े किए जाने से स्वदेशी और वहिष्कार आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। सरकार ने विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेने से मना किया। इस पर बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्ध तोड़ लिया। इससे शिक्षा के क्षेत्र में, स्वावलम्बी होने तथा राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित करने के विचार को उत्तेजना मिली। जो संस्थाएँ केवल आन्दोलन के जोश में स्थापित की गई थीं, उनका पीछे, आन्दोलन ढीला पड़ जाने पर, बन्द हो जाना स्वाभाविक था। जिन संस्थाओं का आधार दृढ़ था, वे ही बनी रहीं। इनमें शान्तिनिकेतन, गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृन्दाबन, महाविद्यालय ज्वालापुर, बंगीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्, समर्थ विद्यालय तेलगांव, प्रेम महाविद्यालय, वृन्दाबन, आन्ध्र जातीय कलाशाला और दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन भावनगर आदि मुख्य हैं। इन संस्थाओं में, कई विशेषताएँ हैं। इनमें शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी जाती है, और अध्यापक विद्यार्थियों से केवल पढ़ाने के समय ही सम्बन्ध नहीं रखते, वरन् पीछे भी उनकी शारीरिक, मानसिक, आदि उन्नति का ध्यान रखते हैं। इन संस्थाओं का पाठ्यक्रम भी ऐसा होता है, जिससे विद्यार्थियों के जीवन में विशेष लाभ पहुँचे। विद्यार्थियों को व्यर्थ के आडम्बर, टीपटाप और फैशन से बचाया जाता है। फिर, यहाँ शिक्षा देने में सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था का यथेष्ट ध्यान रखा जाता है। प्रायः शिक्षा निश्शुल्क होती है; यदि फीस रखी भी जाती है तो सरकारी शिक्षा-संस्थाओं की अपेक्षा बहुत कम।

असहयोग आन्दोलन के समय की, तथा उसके पीछे की संस्थाएँ—सन् १६२० ई० में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ, और काँग्रेस ने सरकारी शिक्षा-संस्थाओं के वहिष्कार का आदेश किया। उस समय बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों में पढ़ना छोड़ दिया। इनके तथा अन्य विद्यार्थियों के लिए बहुत से राष्ट्रीय विद्यालय और महाविद्यालय खोले गए, जैसे तिलक स्कूल आफ पोलिटिक्स, लाहौर; नेशनल कालिज, लाहौर; जामिया मिलिया इस-लामिया, दिल्ली; गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद; तिलक विद्यापीठ, पूना; बिहार विद्यापीठ, पटना; काशी विद्यापीठ, बनारस; महिला विद्यापीठ, प्रयाग; हिन्दी साहित्य विद्यालय, आगरा; आदि। ये संस्थाएँ एक दूसरी के कार्यकर्ताओं के विचारों तथा अनुभव से लाभ उठावें—इस उद्देश्य को सामने रखकर काशी विद्यापीठ ने एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन की व्यवस्था की थी।

असहयोग आन्दोलन शान्त होने पर, इनमें से कितनी ही संस्थाएँ धन न होने, या विद्यार्थियों अथवा कार्यकर्ताओं की कमी के कारण टूट गईं। तथापि इन्होंने अपने थोड़े ही, समय के जीवन में तथा बहुत प्रतिकूल परिस्थितियों में बहुत उपयोगी कार्य कर दिखाया। इनके द्वारा देश को अनेक सुयोग्य और सेवा-व्रती नवयुवक मिले।

सरकारी शिक्षा-कार्य के दोष—भारतवर्ष की विशाल जनता को देखते हुए, तथा सेना, शासन आदि के खर्च की तुलना में, अंगरेज सरकार ने शिक्षा में बहुत ही कम खर्च किया; और जो खर्च किया, उसका भी राष्ट्रीय दृष्टि से जनता को काफी लाभ नहीं मिला। ऊंचे दर्जे की शिक्षा पर बहुत ज्यादा खर्च होना, शिक्षा-संस्थाओं की इमारतों आदि का बहुत ध्यान रखना, ऊंची शिक्षा का माध्यम अंगरेजी करना, सर्वसाधारण की शिक्षा की अवहेलना, विविध पेशों की शिक्षा की व्यवस्था बहुत कम होना, आदि बातें सब जानते हैं। इन दोषों के

कारण देश के अनपढ़ों की भरमार रही; और जो युवक कुछ पढ़-लिख गए, वे ज्यादातर नौकरी की तलाश में इधर उधर मारे-मारे फिरते रहे। शिक्षितों में फैशन या शौकीनी बहुत अधिक बढ़ी, और वे प्रायः बहुत आर्थिक संकट में रहे।

विविध शिक्षा-पद्धतियाँ--शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में संसार में नए-नए विचार होते गए, पर भारत में सरकारी शिक्षा-विभाग एक खास ढर्रे से चलता रहा, उसमें देश-काल की जरूरतें पूरा करने की भावना नहीं रही। दूसरे सज्जन भी अकसर सरकारी नमूने की ही संस्था खड़ी करते रहे। राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ कुछ नई दिशा में आगे बढ़तीं भी तो उनके पास साधन और शक्ति की कमी थी। गनीमत है कि आर्यसमाज की ओर से स्थापित गुरुकुलों में पुरानी वैदिक पद्धति से शिक्षा दी जाती है, जिसमें ब्रह्मचर्य (संयम) और सादगी पर जोर दिया जाता है। प्रेम महाविद्यालय (वृन्दावन) आदि कुछ संस्थाओं में बौद्धिक शिक्षा के साथ, हाथ के काम की भी शिक्षा दी जाती है। शान्तिनिकेतन (बोलपुर) ने शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र प्रयोग किए हैं; श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन (भावनगर) तथा कुछ अन्य संस्थाएँ प्रारम्भिक शिक्षा 'मांटेसरी पद्धति' और माध्यमिक शिक्षा 'डालटन पद्धति' से, देती हैं। बच्चों के पढ़ने में 'किंडर गार्टन पद्धति' का प्रचार बढ़ता जा रहा है। यह साफ जाहिर है कि हमें नई शिक्षा-पद्धतियों पर विचार करने और उन्हें आवश्यकता के अनुसार अपनाने का बहुत काम करना है।

मांटेसरी शिक्षापद्धति का मुख्य अंग बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों का वैज्ञानिक ढँग से ट्रेनिङ्ग करना है। मिसाल के तौर पर रेत लगे कागज (सेंडपेपर) के कुछ टुकड़े होते हैं, उनमें से एक बहुत खुरदरा होता है, दूसरा उससे कम, तीसरा उससे कम। इस तरह वे क्रम से अधिक और कम खुरदरे होते हैं। बालक उन पर हाथ फेर कर उन्हें अधिक और कम खुरदरेपन के हिसाब से लगाता है। वह धीमी और तेज

आवाज़ की घंटियों या सीटियों आदि को उनकी आवाज़ के क्रम से रखता है। इसी तरह बच्चे को अनेक प्रकार के रंगों और आकारों का ज्ञान हो जाता है। डालटन शिक्षापद्धति के अनुसार चलनेवाले स्कूलों में न तो अलग-अलग क्लासों के लिए जुदा-जुदा कमरे ही होते हैं, और न अलग-अलग विषयों के लिए पृथक्-पृथक् घंटे। हरेक विषय का ज्ञान पाने के लिए एक अलग प्रयोगशाला (लेबोरेटरी) होती है, जिसमें उस विषय की सब पुस्तकें चार्ट, नक्शे, और यन्त्र आदि रहते हैं। विद्यार्थियों को बता दिया जाता है कि उन्हें इस-इस विषय में एक हफ्ते में और एक महीने में इतना कार्य करके साल भर में इतना कार्य पूरा करना है। विद्यार्थी इस विषय में स्वतन्त्र होता है कि वह पहले किस विषय का कार्य पूरा करे अथवा एक विषय के लिए एक दिन में कितना समय दे। जिस विषय का कार्य उसे करना होता है, उसी विषय की प्रयोगशाला में वह चला जाता है। वहाँ उस विषय के जाननेवाला अध्यापक रहता है; यदि विद्यार्थी को किसी तरह की कोई कठिनाई होती है तो अध्यापक उसे हल कर देता है। यह साफ़ जाहिर ही है कि इस पद्धति का उपयोग बहुत छोटे विद्यार्थियों के लिए नहीं हो सकता। 'किंडर गार्टन' का अर्थ है, बालकों का बगीचा, अर्थात् ऐसा बगीचा जहाँ फूलों के स्थान पर बच्चे विकसित होते हैं। किंडर-गार्टन-शिक्षापद्धति में शिक्षा का कार्य बच्चों को दिए हुए उपहारों और तरह-तरह के खेलों द्वारा होता है। [श्री० ब्रजमोहन गुप्त एम० ए० के लेख के आधार पर]

मांटेसरी या डालटन आदि पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतियाँ बालक को केन्द्र मान कर चलती हैं; इनमें बालक जैसा चाहता है, वैसा कार्य स्वयं सीखता है, अध्यापक उस कार्य में केवल पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करता है। अब हम भारतवर्ष में उस शिक्षा-पद्धति के चलन की बात बतलाते हैं जो बालक के कार्य को केन्द्र मान कर चलती है, अर्थात् जो उद्योग-केन्द्रित है। यह बुनियादी शिक्षा या नई तालीम है।

इसमें बालक के व्यक्तित्व के बजाय, उसके सामाजिक जीवन का ध्यान रखा जाता है; बालक आरम्भ से ही ऐसे कार्य करता है, जो समाजोपयोगी हों।

बुनियादी शिक्षा या नई तालीम—सन् १९३७ में, भारतवर्ष के अधिकाँश प्रान्तों में प्रजातन्त्रात्मक सरकारों की स्थापना हुई। इसी समय म० गाँधी ने 'हरिजन में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए कहा कि अपने आप में साक्षरता कोई शिक्षा नहीं है। बच्चे की शिक्षा का आरम्भ उसे कोई उपयोगी दस्तकारी (सृजनकार्य) सिखा कर होना चाहिए। इस विचार के आधार पर मार्च १९३८ में डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। इसकी रिपोर्ट पर हरिपुरा कांग्रेस में विचार हुआ। इस प्रकार नई शिक्षा-योजना की प्रेरणा महात्मा गाँधी द्वारा हुई है, और इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार-विनिमय अधिकतर वर्धा में हुआ। साधारण बोलचाल में इस योजना को 'वर्धा-शिक्षा-योजना' कहा जाता है। अस्तु, यह विचार किया गया है कि प्रारम्भिक एवं माध्यमिक स्कूलों की प्रथा उठाकर उसकी जगह सात साल से लेकर चौदह साल की उम्र तक की बुनियादी शिक्षा दी जाय, जिसमें दस्तकारी की शिक्षा की व्यवस्था अवश्य हो, जिसे पूरा करके, युवक अपनी आजीविका कमा सकें, और गाँवों में लौटकर वहाँ बस जाने की भी इच्छा रखें। इस शिक्षाप्रणाली का ध्येय ऐसे बालक-बालिकाओं को तैयार करना है, जो नौकरी की चिन्ता न करें, वरन् स्वावलम्बी जीवन बिता सकें; साथ ही वे यह भी जानलें कि राष्ट्र तथा समाज के प्रति उनका क्या कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व है। इसलिए उन्हें नागरिक-ज्ञान (सिविक्स) आदि समाजशास्त्र की भी शिक्षा दी जानी चाहिए।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ—अप्रेल १९३८ में काँग्रेस द्वारा हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की स्थापना हुई और उसका केन्द्र सेवाग्राम रखा गया। जगह-जगह बुनियादी शिक्षा-संस्थाएँ कायम की गईं और विविध

कठिनाइयाँ होते हुए भी खूब जोश से किया जाने लगा। परन्तु सन् १६३६ में काँग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफे दे देने के बाद इस ओर उपेक्षा की गई। सन् १६४२-४५ के राष्ट्रीय आन्दोलन में तालीमी संघ के २१ सदस्यों में से १५ जेल में थे। इस समय कई जगह बुनियादी स्कूल बन्द हो गए।

सन् १६४५ में, नेताओं के जेल से आजाने पर, सेवाग्राम में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन किया गया। तालीमी सङ्घ की देखभाल में पिछले छः वर्षों में नई तालीम के बारे में तरह-तरह के अनुसंधान और प्रयोग किए गए। म० गाँधी ने देशवासियों की समग्र शिक्षा यानी पूरी तालीम का विचार प्रकट किया था—सात वर्ष की उम्र से पहले की पूर्व बुनियादी शिक्षा, सात वर्ष से चौदह वर्ष तक की उम्र की बुनियादी शिक्षा और चौदह वर्ष के बाद की उत्तर बुनियादी शिक्षा तथा इन तीनों के अलावा ऐसे नागरिकों के लिए प्रौढ़ शिक्षा, जो किसी संस्था में बाकायदा नहीं पढ़ सकते। इस विषय के प्रयत्न हो रहे हैं, और प्राप्त होने वाले अनुभवों से लाभ उठाया जा रहा है।

बुनियादी शिक्षा की विशेष प्रगति संयुक्तप्रान्त; विहार, और दक्षिण भारत में हुई है। मध्यप्रान्त में आरम्भ में काम अच्छा हुआ था, पर इन दिनों वहाँ कुछ उदासीनता सी है। आशा है, सभी प्रान्तों की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा का जोर से प्रचार करेंगी जिससे हिन्दुस्तानी तालीमी सङ्घ का उद्देश्य पूरा हो; शहरों में ही नहीं, गाँव-गाँव में नवयुवकों की बुद्धि, शरीर तथा आत्मा का साथ-साथ सम्यक् विकास हो।

सह-शिक्षा—अब सह-शिक्षा यानी लड़के लड़कियों के साथ-साथ पढ़ने का विषय लीजिए। यद्यपि सरकारी संस्थाओं में इसकी अनुमति है, अभी तक यहाँ अधिकांश बालक और बालिकाएं अलग-अलग पढ़ती हैं। राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं में खासकर शान्तिनिकेतन, तथा दक्षिणा-मूर्ति भवन; भावनगर, आदि में ही सह-शिक्षा जारी है। ऊँची श्रेणियों

में सह-शिक्षा होने के सम्बन्ध में, शिक्षा-विशारदों में बहुत मत-भेद है। कुछ सज्जनों का मत है कि क्योंकि सामाजिक जीवन में, स्त्री-पुरुषों को मिलना ही नहीं, साथ-साथ रहना पड़ता है, यदि शिक्षा-काल में वे एक दूसरे के विचार या दृष्टिकोण समझ सकें तो यह उनके भावी जीवन के लिए उपयोगी होगा। परन्तु जवान लड़के-लड़कियों के साथ-साथ रहने से, उनके चालचलन के बारे में आशंका होती है। इसके अलावा, स्त्री-पुरुषों के कार्यक्षेत्र तथा जरूरतें कुछ जुदा-जुदा हैं। इसलिए सह-शिक्षा बहुत परिमित सीमा तक होना ही उचित है। इसकी व्यवस्था करनेवाली संस्थाओं के संचालकों को अपने यहाँ का वातावरण शुद्ध रखने की भरसक कोशिश करनी चाहिए। ऊंची शिक्षा देनेवाली संस्थाओं में से सह-शिक्षा केवल उनमें होनी चाहिए, जिनके रहन-सहन में संयम, तथा पारिवारिक भावना हो, और जहां अध्यापक अपने विद्यार्थियों से ऐसा व्यवहार करने वाला हो, जैसा सन्तान से किया जाता है।

शारीरिक और नैतिक विचार—कई वर्ष ज्यादहतर दिमाग का ही काम करनेवाले नवयुवकों का शरीर कैसे तन्दुरुस्त रह सकता है, और बार-बार बीमार रहनेवाले सुखी कैसे हो सकते हैं। शरीर को पुष्टि के लिए उत्तम भोजन के अलावा व्यायाम की आवश्यकता है। इसके लिए 'कम खर्च, बालानशीं' देशी व्यायामशालाओं की ज़रूरत है। युवावस्था में विद्यार्थियों के विचार शुद्ध रखने के लिए भी बहुत कुछ काम करना शेष है। धीरे-धीरे बाल-विवाह तो कम होता जाता है, परन्तु कुसंगति आदि उन बातों को रोकने की ज़रूरत बढ़ रही है, जिन से विवाह न होने की दशा में भी युवकों का जीवन खराब हो जाता है। इस बात को ध्यान में रखकर छात्रालयों अर्थात् बोर्डिंग हाउसों की संख्या और क्षेत्र बढ़ाया जाने लगा है परन्तु इससे ही उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। हमें शिक्षा-क्रम को बदलना होगा। अध्यापकों का विद्यार्थियों से केवल चार-पाँच घंटे का ही सम्बन्ध न रहे; उन्हें उनकी उन्नति और सदाचार आदि का हर समय ख्याल रखना चाहिए।

विद्यार्थियों पर उनका शासन नियम और दंड या भय का न होकर, प्रेम और सहानुभूति का होना चाहिए।

बालचर-शिक्षा—युवकों को उनके विद्यार्थी-जीवन में, सेवा और परोपकार की क्रियात्मक शिक्षा देने की व्यवस्था होती जा रही है। किसी घर में आग लग जाने पर उसे बुझाने की तथा वहाँ के आदमियों और बच्चों तथा सामान को बचाने की, अथवा नदी तालाब आदि में डूबते हुए, या मकान की छत आदि से गिरे हुए आदमी या बच्चे की हिफ़ाज़त करने की आवश्यकता समय-समय पर पड़ती रहती है। जब तब इन बातों की शिक्षा न पाई हो, साधारण आदमी ऐसे अवसरों पर विशेष उपयोगी नहीं होता। इसलिए अमली तालीम देने वाली बालचर-संस्थाओं की व्यवस्था स्थान-स्थान पर होनी चाहिए। इनसे स्वावलम्बन, किफायतशारी, और सहकारिता या मेलजोल के भाव बढ़ते हैं।

सैनिक-शिक्षा—हमारी शिक्षा-संस्थाओं में फौजी तालीम देने का प्रबन्ध भी क्रमशः बढ़ रहा है। इसकी आवश्यकता केवल इसी दृष्टि से नहीं है कि इससे भारतवर्ष के भयङ्कर सैनिक-व्यय में कमी होकर दरिद्र प्रजा का कर-भार कुछ हलका होने में सहायता मिले, वरन् इस लिए भी है कि इस से युवकों में साहस, स्फूर्ति और सजीवता (जिन्दादिली) बढ़ती है, और वे अपने नागरिक कर्तव्य पालन करने के अधिक योग्य बनते हैं।

म० गांधी आदि महानुभावों ने संसार को अहिंसा की शक्ति का परिचय दिया है। क्यों न हमारी शिक्षा-संस्थाएँ युवकों को इसका प्रयोग और अभ्यास करावें। अहिंसा भाव से काम करना, शत्रु को अपने प्रेम-भाव से जीतना कुछ आसान काम नहीं है। लेकिन जब कि आदमी सिखाने से यह सीख लेता है कि दूसरों के प्राण लेने के लिए अपनी जान देने को तैयार रहना चाहिए तो क्या वह यह नहीं सीख सकता कि दूसरों को बचाने के लिए कष्ट सहना और अपने प्राण तक न्योछावर करना हमारा

परम कर्तव्य है ।

विद्यार्थी-आन्दोलन—विद्यार्थी बहुत समय से सामूहिक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेते रहे हैं। सन् १८८४ में, भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा इंगलैंड में ली जाने का विरोध किया गया, उसमें विद्यार्थियों ने नेताओं के साथ खूब भाग लिया था। वास्तव में विद्यार्थी-आन्दोलन बंग-भंग (सन् १९०५) के समय से होने लगा। उस समय बहुत से खासकर बंगाली विद्यार्थी शिक्षा-संस्थाओं से निकल आए; उन्होंने स्वदेशी की आवाज लगाई। शिक्षा-विभाग की ओर से विद्यार्थी-आन्दोलन पर पाबन्दी लगाई गई। पर अनेक विद्यार्थियों ने जेल, जुर्माने आदि की कोई परवाह नहीं की। महाराष्ट्र का विद्यार्थी-वर्ग कांग्रेस की 'उदार' नीति को न अपनाकर लो० तिलक के उग्र विचारों से प्रभावित था। सन् १९१४ तक महाराष्ट्र और बंगाल के विद्यार्थी, कांग्रेस से बाहर रहे। देश में उनके कितने ही आतंकवादी समूह बने हुए थे। बम-कांड, षड्यंत्रकेस और फांसियाँ अकसर होती रहतीं थीं। सन् १९१९ में श्रीमती एनीबिसेंट और लो० तिलक के नेतृत्व में 'होमरूल' आन्दोलन चला। विद्यार्थियों ने इस अवसर पर लोकमान्य का दिया हुआ 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'—नारा लगाया।

इस समय तक अधिकांश विद्यार्थियों के सामने कोई रचनात्मक कार्य न था। यह तो उन्हें म० गांधी से मिला। सन् १९२१-२२ के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन में सरकारी स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार होने पर जो नई शिक्षा-संस्थाएँ खोली गईं, उनमें गृह-उद्योग आदि सीखने की व्यवस्था की गई। म० गांधी और कांग्रेस ने विद्यार्थियों को पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयों से बचने, संयम और सादगी से रहने तथा यथा-सम्भव स्वावलम्बी जीवन बिताने की प्रेरणा की। क्रमशः विद्यार्थियों में अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने तथा स्वदेश और स्वदेशी के प्रति आदर-भावना जाग्रत हुई। सन् १९२७ में

अमर शहीद भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव और अहसान इलाही ने विद्यार्थी-आन्दोलन में नई जान फूंकदी और लाहौर में पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में लाहौर-विद्यार्थी-सम्मेलन किया गया। स्वदेशी स्टोर खोले गए और खद्दर बेची गई। सद् १६२६ में लो० तिलक और दादाभाई नौरोजी के निर्वाण-दिवस मनाए गए।

सन् १६३०-३२ के आन्दोलन में विद्यार्थियों ने अच्छा भाग लिया, और हजारों विद्यार्थी जेल गए। उसके बाद तो ये राष्ट्रीय कार्यों के लिए परिश्रम करते और कष्ट सहते ही रहे। सन् १६४२ के आंदोलन का बहुत कुछ श्रेय विद्यार्थियों को है। इस समय अधिकांश नेता जेल में थे, कोई नेतृत्व करनेवाला न था, व्यापारी और कल-कारखाने वाले प्रायः धन कमाने में लगे थे, और मध्यम वर्ग पदार्थों की महँगाई और अभाव से परेशान था। ऐसी विकट परिस्थिति में विद्यार्थियों ने गाँव-गाँव में घूम फिर कर जनता में साम्राज्यवादी सरकार के प्रति विद्रोह को अग्नि प्रज्वलित की। खेद है कि भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर जगह-जगह कुछ विद्यार्थी, साम्प्रदायिक भावनाओं के शिकार होकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में सम्मिलित हो गए और राष्ट्रीयता-विरोधी कार्य करने लगे। परन्तु यह एक क्षणिक घटना थी। प्रायः विद्यार्थी समुदाय हमारे राष्ट्रीय जीवन में प्रगतिशील भावनाओं का ही प्रतीक रहा है, और रहेगा।

विद्यार्थियों का संगठन; अ० भा० विद्यार्थी संघ—असहयोग आन्दोलन के समय कुछ प्रान्तों में विद्यार्थी-संघ बने थे, परन्तु आन्दोलन शिथिल होने पर उनमें से बहुत से टूट गए। सन् १६३०-३२ के आन्दोलन के समय से जगह-जगह विद्यार्थी-संघ बनते रहे। कई प्रान्तीय संघों की भी स्थापना हुई। सन् १६३६ में ये एक अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ (स्टूडेन्ट्स फेडरेशन) में परिणत हो गए। इस संस्था का पहला अधिवेशन लखनऊ में सन् १६३६ में हुआ। ग्यारह प्रान्तों के प्रतिनिधि आए थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने इस

अधिवेशन का उद्घाटन किया था, और श्री० जिन्ना इसके सभापति थे। इसमें विद्यार्थी-संघों के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किए गए—

१—विद्यार्थियों की तकलीफें दूर करना।

२—बेकारी हटाना।

३—सादा जीवन और उच्च विचार का प्रचार करना।

४—शिक्षा की दूषित पद्धति के विरुद्ध आन्दोलन करना।

कहीं-कहीं कुछ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई विद्यार्थियों के संघों की स्थापना साम्प्रदायिक आधार पर भी हुई, पर आम तौर से विद्यार्थियों ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही रखा। कुछ समय से संघ पर कम्यूनिस्टों का प्रभाव बढ़ गया है, और विद्यार्थी-कांग्रेस अलग स्थापित है। इसका अधिवेशन हर साल होता है। बीच में इसके दो दल हो गए थे, पीछे उनमें एकता हो गई। विद्यर्थियों ने अधिकारियों से अपनी मांगें मनवाने के लिए समय-समय पर हड़तालें भी की हैं। विद्यार्थी कांग्रेस एक महान शक्ति है। इसकी सैकड़ों शाखाएँ हैं। इसने विद्यार्थियों को नागरिक और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार दिलाने और उनकी मदद करने के लिए खूब कोशिश की है। प्रायः हर एक कालिज में विद्यार्थियों का यूनियन या ऐसे हो किसी दूसरे नाम की संस्था है।

विद्यार्थियों का अधिकार-पत्र—सन् १९३६ में अ० भा० विद्यार्थी संघ ने विद्यार्थियों का एक अधिकार पत्र स्वीकार किया था; उसकी ये बातें कितनी शिक्षाप्रद थीं!

(१) विद्यार्थी को हर प्रकार से से देश-सेवा का अधिकार है।

(२) शिक्षा केवल उपयोगिता की दृष्टि से न होकर, सर्वतोन्मुखी विकास की दृष्टि से हो।

(३) ऐसी शिक्षा के परित्याग का अधिकार हो, जो राष्ट्रीयता-विरोधी या साम्प्रदायिक वैमनस्य पैदा करनेवाली हो।

(४) विद्यार्थियों का कर्त्तव्य केवल पिता माता तथा संरक्षक के प्रति ही नहीं, देश के प्रति भी है।

(५) शिक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी की आन्तरिक योग्यता का विचार रखा जाय।

(६) पक्षपात-हीन शिक्षा कम-से-कम खर्च में मिले जिससे हरेक व्यक्ति इससे लाभ उठा सके।

(७) सरकार शिक्षा में और अधिक खर्च करे, जिससे विद्याथ का भार हल्का हो।

(८) ऐसे शिक्षा-केन्द्र बनें, जिनका उद्देश्य पैसा पैदा करना न हो।

(९) शिक्षकों को इतनी सुविधाएँ तथा वेतन दिया जाय कि वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध रख सकें।

(१०) शिक्षा-संस्था के भीतर तथा बाहर बोलने लिखने और सभा करने की आज़ादी हो।

(११) विद्यार्थी-संघों का यह अधिकार मान लिया जाय कि वे विद्यार्थियों की माँगों तथा कष्टों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(१२) शिक्षा-संस्थाओं के विद्यार्थी सम्बन्धी प्रबन्ध में विद्यार्थियों का उचित भाग हो।

(१३) विद्या प्राप्त करने के लिए, यन्त्र तथा उपकरण बिना मुनाफा लिए मिलें।

(१४) विद्यार्थियों के लिए व्यायामशालाओं खेल, रेडियो, सिनेमा तथा पुस्तकालय की व्यवस्था हो।

(१५) परीक्षा से मुक्ति मिले, किन्तु जब तक यह न हो सके तब तक परीक्षाएँ इस प्रकार न्यायपूर्ण ढँग से हों कि परीक्षार्थी को अपना ज्ञान दिखाने का मौका मिले; यह न हो कि पूछे हुए प्रश्नों के अलावा सब जानते हुए भी विद्यार्थी फेल हो जाय।

(१६) नौकरी का अधिकार हो।

अध्यापकों की स्थिति और संगठन—अध्यापकों की उन्नति और शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए जगह-

जगह शिक्षकों के सम्मेलन हैं। कई प्रान्तीय सम्मेलन और एक भारतवर्षीय सम्मेलन भी कई वर्ष से हैं। इनका संगठन धीरे-धीरे सुधरता और मजबूत होता जा रहा है। जनवरी सन १९४९ में संयुक्तप्रान्त के जिला-बोर्डों के चालीस हजार अध्यापकों ने हड़ताल की थी। इससे स्पष्ट हो गया कि उनके सङ्गठन का प्रान्त भर में काफी प्रभाव है।

यह हड़ताल अध्यापकों ने, अपने वेतन में वृद्धि कराने के लिए, त्यागपत्र देकर की थी। अधिकाँश प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा देने वालों का वेतन निस्सन्देह बहुत कम (प्रायः पच्चीस रुपए से चालीस रुपए मासिक तक) है। राष्ट्र-निर्माता अध्यापकों की दशा बोर्ड के छोटे-छोटे नौकरों से भी हीन हो, और उन्हें अपनी वेतन के लिए हड़ताल का आसरा लेना पड़े, यह बहुत दुर्भाग्य की बात है। संयुक्तप्रान्तीय पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष डाक्टर अमरनाथ झा के शब्दों में अयोग्य शिक्षक समाज के लिए खतरनाक है। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय अधिकारियों को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। वेतन के अतिरिक्त अध्यापकों को मान और प्रतिष्ठा भी यथेष्ट मिलनी चाहिए। सार्वजनिक समारोहों के अवसर पर इन्हें समुचित आदर प्रदान कर हमें शिक्षा-कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय देना चाहिए। अब स्थान-स्थान पर पंचायतें कायम हो रही हैं। उन्हें इस दिशा में भी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

आ० भा० शिक्षा-सम्मेलन—यह सम्मेलन सन् १९२५ में स्थापित हुआ था, और उस समय से इसकी साधारण अच्छी प्रगति रही है। इसकी वर्तमान स्थिति और कार्यक्षेत्र का कुछ परिचय इसके चौबीसवें अधिवेशन की कार्रवाई से हो जायगा, जो २९, ३०, ३१ दिसम्बर १९४८ को दीवान बहादुर सर रामास्वामी मुदालियर के सभापतित्व में, मैसूर में हुआ था। देश के विविध भागों से आए हुए लगभग तीन हजार प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया था। अधिवेशन से लाभ उठाने के लिए देश के अनेक शिक्षा-विशारद, शिक्षा-संचालक,

शिक्षा-मंत्री, आचार्य तथा माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षालयों के शिक्षक एकत्र हुए थे। इस अवसर पर शिक्षा सम्बन्धी विविध जटिल और विवादग्रस्त समस्याओं पर न केवल गम्भीर विचार-विनिमय हुआ, वरन् उन्हें हल करने के लिए कई-एक योजनाएँ भी तैयार की गईं। शिक्षकों की दयनीय दशा सुधारने पर जोर दिया गया।

एशियाई शिक्षक सम्मेलन—पहले भारतवर्ष से बाहर के अध्यापकों के प्रतिनिधियों का ऐसे कार्य के लिए आना नहीं हुआ था। सन् १९३० में यहाँ काशी में एशियाई-शिक्षक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के कार्य के लगभग बीस विभाग थे। इसमें भाग लेनेवाले कई हजार आदमियों को तरह-तरह का ज्ञान और अनुभव प्राप्त हुआ। चीन, जापान, लङ्का आदि भिन्न-भिन्न देशों के विद्या-प्रेमियो से परिचय पाना बड़े महत्व की बात थी। ऐसे सम्मेलन बहुत उपयोगी होते हैं। इनसे हम यह जान सकते हैं कि अन्य देशों में शिक्षा सम्बन्धी क्या नए अनुभव, प्रयोग और आविष्कार हो रहे हैं, उन्होंने अपनी विविध समस्याओं को किस प्रकार हल किया है, और, हम उनके अनुभवों से कहाँ तक, किस रूप में लाभ उठा सकते हैं। धार्मिक, या राजनैतिक प्रश्नों की भाँति शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न एशिया भर में कुछ मिलते-जुलते हैं। आशा है, ऐसे सम्मेलन समय-समय पर होकर हमारी शिक्षा-सम्बन्धी जागृति की गति तेज़ करने में सहायक होंगे।

स्वतंत्र भारत का शिक्षा-संगठन—अगस्त १९४७ में भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने पर सरकार के सामने भारतीय शिक्षा को वास्तव में राष्ट्रीय बनाने का उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य उपस्थित हुआ। शिक्षा-मंत्री अब्दुलकलाम आजाद के नेतृत्व में शिक्षा-विशारदों ने देश के शिक्षा-संगठन की मूल रूप-रेखा तैयार की; उसमें खासकर यह ध्यान रखा गया—(१) भारतवर्ष के जनसाधारण की निरक्षता का निवारण करना है, और (२) युवकों को उनकी बढ़ती हुई जिम्मेदारियों को संभालने के योग्य बनाना है।

निरक्षता-निवारण—भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर सरकार को यहाँ लगभग ८५ प्रतिशत आदमी निरक्षर मिले। दिसम्बर १६३८ में भारत-सरकार के शिक्षा-सलाहकार श्री० सारजेंट ने ४० वर्ष में प्रत्येक प्रौढ़ (चौदह वर्ष से ४० वर्ष तक के) व्यक्ति को शिक्षित करने की योजना बनाई थी। वह योजना कुछ चली नहीं। स्वतंत्र भारत तो ४० वर्ष तक रुका रहना सहन नहीं कर सकता। मत देने के लिए भी २१ वर्ष से अधिक उम्रवाले सभी स्त्री-पुरुषों को शिक्षित बनाना आवश्यक है। यदि जनता मूर्ख है तो वह अपने मत देने आदि के अधिकारों का दुरुपयोग ही करेगी।

अब यह विचार किया गया है कि दस वर्ष के भीतर, ऐसी व्यवस्था हो जाय जिससे छः वर्ष से लेकर ग्यारह वर्ष तक के सब बालकों को अनिवार्य रूप से शिक्षा मिले। प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया है कि पांच वर्ष के भीतर कम-से-कम ५० फीसदी जनता समाज-शिक्षा प्राप्त करले। प्रथम वर्षों में ऐसा प्रबन्ध किया जायगा कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति कुछ दिन शिक्षक का काम करे। संयुक्तप्रान्त में जिला-बोर्डों के स्कूलों के साथ २२,००० नए प्राइमरी स्कूल खोलने का निश्चय किया गया है, जिनमें से ६७०० स्कूल इसी वर्ष से खुल रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक डेढ़ मील में एक स्कूल हो जायगा। इन स्कूलों में लड़के लड़कियाँ समान रूप से शिक्षा प्राप्त कर सकेंगी। इसी प्रकार के प्रयत्न मध्यप्रान्त आदि अन्य प्रान्तों में हो रहे हैं।

शिक्षा का माध्यम—शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस विषय में अभी बहुत मतभेद है। कुछ लोग अंगरेजी भाषा के और कुछ लोग प्रान्तीय या मातृभाषा के उपयोग पर बहुत जोर दे रहे हैं। साधारणतया ऐसी व्यवस्था करना ठीक होगा कि जिन स्थानों में (शरणार्थियों के आजाने या अन्य कारणों से) ऐसे विद्यार्थी काफी हैं जिनकी मातृभाषा वहाँ की प्रान्तीय भाषा से पृथक् है, और जिन्हें कुछ समय बाद अपने प्रान्त में जाने की आशा है, वहाँ उन बालकों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा

का माध्यम उनकी मातृभाषा हो। इसे छोड़कर प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा होनी चाहिए और इस शिक्षा के अन्तिम तीन वर्षों में उन्हें राष्ट्र भाषा का भी अभ्यास हो जाना चाहिए। उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा हो, जिससे अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय की सुविधा हो और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वान एक-दूसरे से यथेष्ट सम्पर्क रखते हुए राष्ट्रीयता की वृद्धि करें। व्यवहारिकता की दृष्टि से यह नीति एकदम अमल में न लाई जाकर, अभी चार-पांच साल तक अंगरेजी का उच्च शिक्षा के लिए उपयोग किया जा सकता है। परन्तु हम अपने सामने भाषा के स्वराज्य और स्वावलम्बन का तथा राष्ट्र की एकता का लक्ष्य रखें।

समाज-शिक्षा—हमारी तात्कालिक उन्नति के लिए प्रौढ़ शिक्षा का भी बड़ा महत्व है। प्रजातंत्र में ऐसी शिक्षा की आवश्यकता स्पष्ट ही है। कारण, जब तक निर्वाचक शिक्षित न हों, प्रजातंत्र यथेष्ट कार्य नहीं कर सकता। उसकी सफलता निर्वाचकों की शिक्षा पर निर्भर होती है। इस प्रकार हमारे प्रौढ़ व्यक्तियों का मानसिक विकास इतना हो जाना चाहिए कि वे स्वदेश तथा संसार के विषयों में विचार-पूर्वक भाग ले सकें। इसलिए प्रौढ़ शिक्षा का क्षेत्र बढ़ाया गया है, और इस परिवर्तन को सूचित करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा को 'समाज-शिक्षा' कहा जाने लगा है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण अभी इस शिक्षा की योजना खास-खास क्षेत्रों में ही सीमित रहेगी, पर आशा है, जल्दी इसका प्रकाश गाँव-गाँव तक, गरीबों की झोपड़ियों तक पहुँचेगा, और प्रत्येक भारतवासी अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन करता हुआ मानव जीवन व्यतीत कर सकेगा।

आठवाँ अध्याय

मानसिक जागृति

(२) भाषा और साहित्य

हमें युग-धर्म के अनुरूप साहित्य की रचना करनी है।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

कला, साहित्य और संस्कृति को भी हमें इस ढंग से ढालना होगा कि किसान और मज़दूर उसमें से अपना हिस्सा ले सकें।

-- लेनिन

साहित्यिक जागृति का आशय है कि सर्वसाधारण की भाषा में, और विविध उपयोगी विषयों का, काफी साहित्य प्रकाशित हो; उससे हमें जीवन और प्रफुल्लता मिले, हम संसार के विविध देशों में फैली हुई विचार-धाराओं का परिचय प्राप्त करें और मानव समाज के ज्ञान के आदान-प्रदान में भाग लें। इस अध्याय में यह विचार करना है कि हमने इस दिशा में कहाँ तक प्रगति की है। इसके लिए यह ध्यान में रखना उपयोगी होगा कि हमारे साहित्य पर जागृति-काल में किन-किन बातों का प्रभाव पड़ा है।

धार्मिक जागृति आदि का प्रभाव—साहित्य जहाँ समाज को जगाता है, उसके साथ, वह सामाजिक स्थिति से प्रभावित भी होता है। जागृति-काल के आरम्भ में यहाँ जनता पर विशेष प्रभाव आर्य-समाज का पड़ा। इससे आदमियों में स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा, आदि के प्रति भक्ति-भावना बढ़ी। पराधीनता की दशा में इसका यथेष्ट महत्व था। परन्तु पुरानी बातों के प्रति श्रद्धा अब इतनी अधिक हो चली कि सब वैज्ञानिक आविष्कारों का उद्गम वेदों में बताया जाने लगा। भौतिक

जगत में पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा जिस बात को खोज की जाने की चर्चा होती तो यह कहा जाता कि यह बात तो हमारे यहाँ पहले की ही मालूम की हुई है। नए अस्त्र-शस्त्र, यंत्र, औषधि, चिकित्सा-पद्धति, शासनपद्धति या कार्यप्रणाली—सब नई बातों का विवेचन रामायण, महाभारत आदि में मिलने की बात सिद्ध की जाने लगी। कोई बात अच्छी है, या बुरी—इसका निश्चय करने के लिए उस बात के गुण-दोषों का विचार इतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना यह मालूम करना कि पुराने शास्त्रों में इसके विषय में क्या लिखा है। इस प्रकार बात-बात में शास्त्रार्थ की बात आने लगी। साहित्य के क्षेत्र में भी प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर विवेचन किया जाने लगा।

नई शिक्षा का प्रभाव—जागृति-काल के आरम्भ में पहले ईसाइयों द्वारा तथा पीछे ईस्ट इंडया कम्पनी द्वारा अंगरेजी शिक्षा का प्रचार हुआ। हम क्रमशः नई-नई बातें ग्रहण करने लगे। पर हमारा आप्त वाक्यों वाला संस्कार बना रहा। हाँ, अब यहाँ के विद्वानों और आचार्यों के मत को प्रशंसा करने के लिए उनकी पाश्चात्य पंडितों से तुलना की जाने लगी। किसी का गौरव सूचित करने के लिए उसे विदेशी उपमा दी जाने लगी। राममूर्ति को भारतवर्ष का सेंडो (पहलवान) कहा गया, हल्दीघाटी को यूनान की थर्मापली, और कालीदास को भारतवर्ष का शेक्सपियर माना जाने लगा। भारतवासी किसी विषय में अपने मत की पुष्टि के लिए विदेशियों का मत ढूंढ़ कर उसे उद्धृत करने लगे। हमारे ग्रन्थों में विदेशियों के उद्धरणों की भरमार होने लगी, केवल इसलिए नहीं कि विषय का तुलनात्मक विवेचन हो, वरन् इसलिए कि हम अपने कथन की सचाई और गहराई साबित करने के लिए विदेशियों की साक्षी की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

जैसा कि श्री० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने 'आज'- रजत जयन्ति अंक, सन् १६४५, में लिखा है, 'पुराने गौरव के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान और नवीन ज्ञान के प्रति भी आस्थायुक्त, इस युग के साहित्य का

सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अपने आपको पहचानने में पूर्ण प्रयत्न-शील है, पर दोष यह है कि वह हरेक बात में किसी आप्त वाक्य पर अवलम्बित है, किसी वस्तु का मूल्य उसकी अपनी योग्यता के बल पर ही आंकने की प्रवृत्ति उन दिनों शिशु-अवस्था में ही थी। इस देश के साहित्यिक उन दिनों निश्चित रूप से आप्त वाक्यों से चालित हो रहे थे। ये 'आप्त' देशी भी हो सकते थे, विदेशी भी, नए भी हो सकते थे, और पुराने भी। इनके आप्तत्व के लिए भी खोज-पूँछ करना उन दिनों आवश्यक नहीं माना जाता था। हमारे शिक्षित वर्ग का अधिकांश उन दिनों योरपोय मनीषा की श्रेष्ठता स्वीकार कर चुका था।'

राजनैतिक स्थिति का प्रभाव—भारतवर्ष ने अंगरेजों के शासन से अपना प्रबल असंतोष प्रथम बार सन् १८५७ में प्रकट किया। इसके बाद होने वाले भयंकर दमन ने हमारे स्वतंत्र साहित्य का गला घोट दिया। पोछे समय समय पर क्रान्तिकारी घटनाएँ हुईं, और सन् १८८५ से कांग्रेस द्वारा वैध आन्दोलन होने लगा। सन् १९०५ के बंग-भंग ने जनता में अनोखी जाग्रति की। स्वदेशी और बहिष्कार-आन्दोलन के फल-स्वरूप अंगरेजों और अंगरेजी बातों के प्रति अंध-श्रद्धा कम हुई। विचार-धारा में परिवर्तन होने लगा। हमारे साहित्य में तेज को वृद्धि हुई। सन् १९१४ से प्रथम योरपीय महायुद्ध आ गया। इसने यहाँ 'आत्म-निर्णय' और 'छोटे राष्ट्रों को स्वतंत्रता' का संदेश पहुँचाया। राजनैतिक साहित्य की वृद्धि हुई। महायुद्ध से यहाँ लोगों की योरपीय श्रेष्ठता की भावना क्षीण हुई। अब वे यह सोचने लगे कि अन्य आदमियों की तरह उनमें भी अनेक दोष हैं, और हमें उनका अनुकरण न कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। महायुद्ध के बाद भारत अपनी स्वतंत्रता की आशा लगाए हुए था, पर उसे मिला दमन-कारी रौलेट एक्ट और जलियानवाला बाग का हत्याकांड, फौजी कानून और गोलीकांड आदि। इस समय से राष्ट्रीय आन्दोलन ने सत्याग्रह और असहयोग का रूप धारण किया। इससे गांधीवादी साहित्य का

प्रकाशन बढ़ा। १६३५ के शासन-विधान के अनुसार यहाँ सन् १६३७-३६ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना हुई, उससे जनता में नई-नई आशाओं का उदय हुआ। सन् १६३६ में दूसरा योरपीय महायुद्ध जनता के लिए विविध आर्थिक संकट लाया। पीछे एक ओर तो आजाद हिन्द फौज का उत्साहवर्द्धक कार्य, दूसरी ओर सन् १६४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन और इसके फल-स्वरूप सरकार द्वारा भयंकर दमन तथा अत्याचार और इन सबके बाद अगस्त १६४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति—इन सब बातों की भारतीय साहित्य पर काफी छाप पड़ी है।

असल में सात्विक और लोकोपयोगी साहित्य के लिए लेखकों में तप और त्याग के भावों की आवश्यकता होती है, तभी अनुकूल वातावरण पैदा होता है। जो बातें देश में ऐसे भावों को बढ़ाती हैं, वे सच्चे लेखकों, कवियों और साहित्य-सेवियों को पैदा करने में सहायक होती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन से ऐसी परिस्थिति पैदा हुई कि नागरिक ऊंचे दर्जे के विचारों और साहित्य का आदर करने लगे।

साहित्य सम्बन्धी कुछ ब्योरेवार बातों का विचार करने से पूर्व हमें यहाँ की जागृति-काल से पहले की भाषा स्थिति जान लेनी चाहिए।

पहले की भाषा-स्थिति—अठारहवीं सदी में यहाँ देश के विविध भागों में जुदा-जुदा भाषाएँ जारी थीं; कोई भाषा राष्ट्र-भाषा न थी। नई रोशनी के नवयुवक अंगरेज़ी को अपनाने लगे थे, यहाँ तक कि कुछ आदमी शासकों का सहयोग पाकर इसे ही देश के शिक्षितों की भाषा बनाने का दम भरते थे। जहाँ-तहाँ, कुछ भारतीय विद्वान् संस्कृत को फिर राष्ट्र-भाषा बनाने की कल्पना करते थे। फारसी को राज-आश्रय प्राप्त था; संस्कृत में प्राचीन, और अंगरेज़ी में नवीन ज्ञानभण्डार भरा हुआ था। और, हिन्दी में उस समय क्या था? अलग-अलग विषयों के साहित्य की बात तो दूर, इसमें गद्य-भाग का भी अभाव सा ही था। इसमें केवल कुछ काव्य था, वह भी अधिकतर शृङ्गार और भक्ति

रस से भरा हुआ। वीर रस का तो पद्य साहित्य भी कम था।

हिन्दी गद्य का विकास—हिन्दी गद्य काफी विकसित होने के बाद हमें इस रूप में प्राप्त हुआ है। इसका सब से पहला रूप ब्रजभाषा काव्य की टीका टिप्पणियों तथा 'वार्त्ताओं' में मिलता था। हिन्दी गद्य को परिमार्जित रूप देने वाले मुख्य चार व्यक्ति थे, जिन्होंने सन् १८६० के लगभग खड़ी बोली के गद्य को प्रारम्भ किया, वे थे मु० सदासुखलाल, इंशाल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। राजा शिवप्रसाद (सितारे हिन्द) ने उर्दू-मिश्रित हिन्दी गद्य लिखा और उसका पाठशालाओं में प्रचार कराया। इसके उत्तर में राजा लक्ष्मणप्रसाद जी ने शुद्ध हिन्दी का प्रचार किया। हिन्दी गद्य का विशेष विकास करनेवाले सब से पहले सज्जन चिर-स्मरणीय श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी (सन् १८५०-८५) हैं। इनकी प्रतिभा विलक्षण थी और इन्होंने अपना तन-मन-धन साहित्य-कार्य में लगा दिया। इन्होंने सुन्दर रचनाओं से गद्य को एक विशेष शैली प्रदान की, उसे एक सुन्दर रूप दिया जो आज भी प्रचलित है। आगे चलकर, जिन साहित्य-सेवियों ने इस भाषा को परिमार्जित, सजीव और निश्चित बनाने में भाग लिया, उनमें आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी मुख्य हैं। आपने भाषा का संस्कार, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, शुद्ध वाक्य विन्यास, सरल भाषा में भाव व्यंजना आरंभ कर, उसे परिमार्जित कर जनता के सामने रखा। द्विवेदी जी के पश्चात् आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एक विशिष्ट आलोचना शैली का जन्म दिया; उनकी भाषा शुद्ध तथा साहित्यिक थी।

खड़ी बोली का प्रचार—स्थान की कमी के कारण यहाँ हिन्दी गद्य के विकास में भाग लेनेवाले अन्य साहित्यसेवियों की चर्चा नहीं की जा सकती। यह कहना आवश्यक है कि इस कार्य में ईसाई पादरियों का सहयोग भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए हिन्दी गद्य (खड़ी बोली) की पुस्तकें लिखवाईं

तथा व्याकरण और कोष भी तैयार कराया। हिन्दी के प्रचार में मुसलमानों से भी बड़ी सहायता मिली है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के मुसलमानों का देहली और संयुक्तप्रान्त आदि से सम्बन्ध रहा है, और इन प्रान्तों के मुसलमान देश के विविध भागों में जाते-आते रहे हैं। इस प्रकार दूसरी भाषा वाले प्रान्तों में हिन्दी का अच्छा प्रचार हुआ है। आर्य समाज ने भी हिन्दी भाषा को विशेष रूप से अपनाया, और अपने शास्त्रार्थ तथा प्रचार साहित्य में इस भाषा का उपयोग किया।

हिन्दी की खड़ी बोली का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। हिन्दी के स्थानीय भेद या उप-भाषाएँ कई-एक हैं, जिनमें मागधी, बुन्देली, अवधी, बैसवारी, शौरसेनी, छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी मुख्य हैं; पर इनमें साहित्य-रचना बहुत कम होती है और जो होती भी है वह प्रायः पद्य में। अस्तु, अब गद्य और पद्य दोनों में, खड़ी बोली का उपयोग बढ़ता जा रहा है।

साहित्यिक प्रगतियाँ—भारत के जाग्रत जीवन के साहित्य का स्वरूप व्यापक, सजीव और नव-स्फूर्ति से पूर्ण है। सामयिक साहित्य में केवल देश की राष्ट्रीय भावना, उसकी राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा का ही विवेचन और मनन नहीं हुआ, विश्व की परिवर्त्तनशील अवस्था ने भी अपना प्रकाश पाया है। राष्ट्रीय आन्दोलन तो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सजगता का परिणाम हो सकता है, पर विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्व की मनोरम कोमल ध्वनि साहित्य का प्रसाद है। इस भावना में हमें विश्व के विभिन्न साहित्यों का प्रतिबिम्ब मिलता है। अस्तु, अब हम हिन्दी साहित्य के विविध अंगों—काव्य, उपन्यास, नाटक आदि—की प्रगति का विचार करते हैं।

काव्य—आज कल हिन्दी काव्य में विशेषतः तीन प्रकार की रचनाएँ चल रही हैं, वे हैं रहस्यवादी, छायावादी और प्रगतिवादी। आधुनिक काव्य में पश्चिमी साहित्य का काफी प्रभाव पड़ा है। आज कविता भाव-प्रधान हो गई है। छन्द, अलंकार और रस-ध्वनि आदि के

सम्बन्ध में आचार्यों ने जो मार्ग बनाया था, वह अब अवांछनीय सा हो गया है। विभिन्न रूप आकार और स्वर, यति तथा रागवाले छन्द छोटी-छोटी मर्मस्पर्शिनी समझी जानेवाली कविताओं में मिलते हैं। अलंकारों का भी प्रयोग होता है, और खूब होता है; परन्तु अलंकारों के लिए ही नहीं होता, उन्हें भाव-प्रकाशन का एक साधन समझा गया है। कला-पक्ष इस युग के काव्य में अपना मूल्य खो बैठा है। इसी प्रकार विषय भी विचित्र हैं। अब नायक नायिकाओं पर काव्य नहीं होते, आंसू, बादल, वीणा, मसोस, ऊषा और हाला, प्याला आदि ही काव्य के विषय हैं। अब महाकाव्यों की भी ओर प्रवृति हुई है। खण्ड-काव्य भी लिखे गए हैं। महाकाव्यों में प्रधानता अभी धार्मिक विषयों की है। बौद्ध साहित्य और भावना ने भी प्रमुख साहित्यकारों को प्रभावित किया है।

ऊपर कहा गया है कि इस समय काव्य में खासकर तीन धाराएँ चल रही हैं, इनका कुछ परिचय प्राप्त कर लिया जाय। पहले रहस्यवाद और और छायावाद को लें। रहस्यवादी साहित्य वह अभिव्यक्ति है, जिसमें जीवात्मा एक दिव्य और अलौकिक शक्ति का अनुभव करती है; उससे मिलने के लिए व्याकुल होती है। जीवात्मा को इस शक्ति का आभास समस्त सृष्टि में होता है; किन्तु यह शक्ति अलक्षित रहती है। रहस्यवादी ऐन्द्रीय जगत से उठकर, विचारशक्ति और कल्पनाओं के जगत में एकाकार का अनुभव करता है। छायावादी विचारधारा में मनुष्य के हृदय और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जिसमें प्रकृति मानव जगत के साथ हँसती या रोती, दुखी या सुखी होती व्यक्त की गई है। इसमें मूर्त्त और अमूर्त्त का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अमूर्त्त भावनाओं का व्यक्तिकरण किया गया है। छायावाद को साहित्य-क्षेत्र में, हृदयवाद, अध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद आदि नाम से पुकारा गया है। इसको रहस्यवाद भी कह दिया जाता है किन्तु रहस्यवादी विचारक तमाम सृष्टि से एकाकार का अनुभव करता है और छायावादी विचारक जड़

को चेतन का रूप देता है, वह जड़ पदार्थ—पुष्प, पत्तियाँ, झरना, इत्यादि के साथ हँसता, खेलता और उनसे एकीकरण के भावों को व्यक्त करता है।

प्रगतिशील रचनाओं से हमारा तात्पर्य उन रचनाओं से है, जो हमें अपने भौतिक जीवन को आगे बढ़ाने की ओर प्रेरित करती हैं। इस प्रकार के साहित्य में सामाजिक भावना प्रधान होती है, 'अहं' की नहीं। प्रगतिवादी साहित्य में केवल आर्थिक स्तर की ही विशेष मान्यता है। किसी परोक्ष सत्ता या आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जाता। इसके मूल में मानववाद की भावना छिपी है। यह पूँजीवाद तथा उससे सम्बन्धित राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यक रूढ़ियों की प्रतिक्रिया है। प्रगतिवादी साहित्य की व्यञ्जना भावात्मक न होकर आलोचनात्मक और बौद्धिक होती है।

कहानी—कविता के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों में भी पश्चिम की नई लहर का प्रभाव पड़ा। विदेशी पहले-पहल बंगाल में आए; उनके आने से वहाँ के लोगों में कहानी का प्रचार हुआ। वैसे तो कहानी या कथा लिखने की प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही थी। परन्तु पहले कहानी का दूसरा ही रूप था, वह उपदेशों का माध्यम सी थी, उसका विषय काल्पनिक हुआ करता था। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से उसमें सामाजिक, राजनैतिक, और धार्मिक विषयों पर लिखा जाना आरम्भ हुआ। इस प्रगति के प्रथम काल में मु० इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' प्रधान है। श्री गिरजाकुमार घोष ने भी 'सरस्वती' में कहानियाँ प्रकाशित कराकर पथ-प्रदर्शक का काम किया। इसके बाद श्री० प्रेमचन्द ने मौलिक कहानियोंकी रचनाकर, उनमें चरित्र-चित्रण और मनोभावों का दिग्दर्शन करा कर उन्हें कला पूर्ण बनाया। श्री० प्रसाद ने कहानियों को सीधे-सादे ढंग से आरम्भ कर उन्हें दार्शनिकता की कोटि में पहुँचाया। हिन्दी साहित्य का यह अंग काफी पुष्ट हो गया है। अब तो कहानियों की बाढ़ सी आ गई है।

उपन्यास—साहित्य का आधुनिक काल उपन्यास और नाटकों का युग कहा जाता है। हिन्दी में उपन्यासों का चलन खासकर बंगला उपन्यासों की प्रेरणा से हुआ। सन् १६१६ में श्री प्रेमचन्द का 'सेवा सदन' उपन्यास आता है, इसे छोड़ कर सन् १६२० तक हिन्दी का कोई अच्छा उपन्यास नहीं मिलता। इस समय तक उपन्यासों का अनुवाद ही होता रहा है, इसके बाद हमें मौलिक उपन्यासों की रचना मिलती है, और श्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद किया जाता है। इस युग के सर्व-श्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचन्द जो हैं, इनके उपन्यासों में हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कंकाल और तितली तथा श्री भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा उच्च-कोटि के उपन्यासों में से हैं। इस समय उपन्यास सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखे गए। उनमें चरित्र-चित्रण, कथन की स्वाभाविकता, अन्तर्द्वन्द की अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाई जाती है।

नाटक—उपन्यास की भांति नई शैली के नाटक भी बंगला नाटकों से प्रभावित हुए। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने चन्द्रावली, नीलदेवी आदि मौलिक नाटकों की रचना कर तथा कुछ बंगला और संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर इस दिशा में नया कदम रखा। इनके बाद हमारे सामने प्रसाद के नाटक आते हैं; इनमें प्राचीन संस्कृति और सामाजिक परिस्थिति का विशेष ध्यान रखा गया। इनमें कलात्मकता तो कम, काव्य की उड़ान अधिक है। आधुनिक नाटककारों की रचनाओं में पाश्चात्य नाट्यकार इब्सन, लार्ड बर्नार्डशा और एच० जी वेल्स इत्यादि की शैलियों का काफी प्रभाव पड़ा है। नाटककार को परिपाटी-युक्त नियमों की चिन्ता न करके, अपनी भावोन्मुक्त अवस्था के अनुकूल नया-नया रूप खड़ा करने की स्वतंत्रता मिल गई है। ऐतिहासिक, पौराणिक; सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गए हैं।

साहित्य के स्वरूप की विशालता—अब से कुछ समय

पहले तक हमारे बहुत से लेखकों ने साहित्य-देवता के पूरे स्वरूप का चिन्तन नहीं किया था। उन्होंने उसके कुछ अंगों को ही पूरी चीज़ समझा। इससे 'साहित्य' शब्द संकीर्ण अर्थ में काम आने लगा। उसका मतलब कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सरस सुपाच्य (जल्दी हज्म होनेवाला), मधुर और मनोरंजक साहित्य ही रह गया। धीरे-धीरे दर्शन, और इतिहास को भी साहित्य कहलाने का गौरव मिला। विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति आदि को उसमें कुछ स्थान न मिला; अथवा जो मिला, वह इन विषयों की उपयोगिता और आवश्यकता की तुलना में नहीं के बराबर रहा। साहित्य-संस्था का अर्थ हो गया, इन विषयों को छोड़कर अन्य साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली संस्था। जहाँ साहित्य के प्रचार या प्रोत्साहन की बात आई तो समझ लिया गया कि अर्थशास्त्र और राजनीति आदि तो इस कार्यक्षेत्र से बाहर ही हैं। संतोष की बात है कि अब इसमें कुछ सुधार हो रहा है।

हमने 'हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य' की पुस्तक में यह बताने की कोशिश की है कि हिन्दी में इस समय अर्थशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी कितना साहित्य है, और इनकी किस-किस शाखा के सम्बन्ध में कैसी-कैसी पुस्तकों की आवश्यकता है। अगर भूगोल, इतिहास विज्ञान, काव्य आदि दूसरे विषयों के विद्वान् अपने-अपने विषय के साहित्य का इस तरह परिचय दें तो हमें हिन्दी साहित्य के पूरे स्वरूप की जानकारी हो सकती है, और इसके भंडार को बढ़ाने के लिए लेखकों को अच्छा परामर्श मिल सकता है।

समालोचना—पहले प्राचीन कवियों और लेखकों की कृतियों की, आँख मीच कर प्रशंसा की जाती थी। अब तो कालीदास और सूर आदि की रचनाओं की आलोचना करनेवाले लेखक भी सामने आते जा रहे हैं। असल में किसी साहित्यकार के लिए हृदय में आदर और श्रद्धा रखने का यह मतलब न होना चाहिए कि हम उसकी ऐसी रचना का भी प्रचार करें, जिससे समाज के किसी अंग का अपमान या

अहित हो। साहित्य के बारे में अपना मत जाहिर करते समय, हमें अन्ध श्रद्धा, पक्षपात या दलबन्दी के भावों से ऊपर उठना चाहिए। खेद है कि बहुए से समालोचक अपने महान् उत्तरदायित्व को भूल जाते हैं। वे अपने परिचित या जान-पहिचान के लेखक की रचना की बहुत ज्यादा प्रशंसा कर डालते हैं; वे उसे युग-परिवर्तनकारी कह देते हैं। अपने मित्रों को लेखक-सम्राट् या कवि-सम्राट् आदि पदवियाँ प्रदान करने में उन्हें कुछ संकोच नहीं होता। यद्यपि कुछ पत्र-पत्रिकाओं में अच्छी निष्पक्ष समालोचनाएँ होने लगी हैं, अभी इस विषय की और भी अच्छी व्यवस्था होने की बहुत आवश्यकता है।

उर्दू—हिन्दी की खड़ी बोली में फारसी अर्बी के शब्दों को मिला कर बोली जाने और फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली भाषा उर्दू कहलाती है। इसके साहित्य की उन्नति कविता से आरम्भ हुई। यह कार्य अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग से होने लगा। मीर अमन का प्रसिद्ध 'बागोबहार' नाम की पोथी सन् १८०२ में बनी। महाकवि अकबर, हाली, डाक्टर इकबाल, 'जोश', चकबस्त, सुरूर जहानाबादी, सागर निजामी और बिसमिल आदि की कविताओं से अनेक हिन्दी पाठक परिचित हैं। गद्य लिखने की चाल कविता से पीछे पड़ी। उर्दू में उपन्यास और नाटक की अपेक्षाकृत कमी है। आलोचनात्मक साहित्य अच्छा लिखा गया है। उर्दू का इतिहास, कवियों के ग्रन्थों पर अलग-अलग पुस्तकें, तथा पत्र-साहित्य भी खूब प्रकाशित हुआ है। इस दिशा में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, ने बहुत काम किया है। उसके द्वारा विविध विषयों के अनुवादित तथा मौलिक ग्रन्थ छपाए गए हैं। अंजुमने तरक्की-ए-उर्दू (दिल्ली), जामा मिलिया (दिल्ली) आदि के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं।

उर्दू पंजाब और संयुक्तप्रान्त के दफ़्तरों और अदालतों की भाषा सन १८३७ के लगभग हुई। हिन्दी-उर्दू का वादविवाद बहुत पुराना नहीं है। पहले मुसलमानों में उर्दू की तरफदारी न थी, वे हिन्दी की अच्छी

सेवा करते थे। जायसी, अकबर, रहीम, रसखान आदि के नाम हिन्दी साहित्य में अमर हैं। पिछले इतिहास में समय-समय पर देश में कभी साम्प्रदायिकता की लहर उठी, कभी राष्ट्रीयता का आन्दोलन ज़ोरों पर हुआ। पहली लहर, दोनों भाषाओं की अलहदगी बढ़ाती रही है, और राष्ट्रीय आन्दोलन इन्हें एक-दूसरे के निकट लाता रहा है। जागृति-काल में साम्प्रदायिक भावनाओं को दूर करने का खासा प्रयत्न हुआ, और समय-समय पर कुछ सफ़लता भी दिखाई दी, परन्तु ब्रिटिश शासक राजनैतिक चालों से राष्ट्रीयता के मार्ग में रोड़े अटकाते रहे। अन्त में भारतवर्ष के एक हिस्से का 'पाकिस्तान' नाम से अलग राज्य बन जाने से भारतीय संघ में उर्दू की प्रगति को गहरा धक्का पहुँचा। यहाँ अब हिन्दी का ही बोलबाला है, चाहे भिन्न-भिन्न स्थानों में उसके रूपों और शैलियों में कुछ अन्तर भले ही हो।

जागृति-काल में प्राँतीय भाषाओं की उन्नति; बंगला— जागृति काल में हमारी प्रान्तीय भाषाओं की अच्छी उन्नति हुई है। बंगला भाषा में गद्य का प्रचार ईसाई पादरियों द्वारा आरम्भ हुआ। सन १८०० ई० में अँगरेज सिविलियनों को देशी भाषा सिखाने के वास्ते कलकत्ते में फ़ोर्ट-विलियम कालिज की स्थापना होने पर बंगला की शिक्षा देने के लिए गद्य में पढ़ाई की पुस्तकें बनाई जाने लगीं। धीरे-धीरे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों ने बंग भाषा की खूब उन्नति की। उन्नसवीं सदी के पिछले हिस्से से बंगला के सभी विषयों का साहित्य बढ़ने लगा। सन १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े किए जाने पर जो जन-आन्दोलन हुआ, उससे इस भाषा के साहित्य में आधुनिकता का प्रभाव बढ़ा। साथ ही नाटकों द्वारा देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना गाँव-गाँव में फैल गई। प्रथम महायुद्ध के बाद प्राचीन धारणाएँ क्षीण हो गईं, अधिकाँश लेखकों ने नवीनता का स्वागत किया। कथा साहित्य में पहले नैतिकता की प्रधानता थी, अब आर्थिक संघर्ष और सामाजिक

विद्रोह का चित्रण होने लगा है। नाटकों में पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों के बाद सामाजिक नाटकों का उदय हुआ है। शरच्चन्द्र ने उपन्यास-साहित्य की प्रशंसनीय वृद्धि की है। अनेक हिन्दी पाठक शरत्-साहित्य से अच्छी तरह परिचित हैं।

बंकिम बाबू अपने अन्यान्य उपन्यासों में 'आनन्द मठ' के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इस उपन्यास में 'वन्देमातरम्' गान का समावेश है, जो भारतवर्ष का राष्ट्रीय गीत रहा है। बंकिम बाबू के उदार दृष्टिकोण का परिचय इस बात से मिलता है कि आपने अब से ७५ वर्ष पहले, सन् १८७३ में अपने 'बंग दर्शन' नामक मासिक पत्र में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया था। श्री० रवीन्द्रनाथ ठाकुर उस गीतांजली के प्रणेता हैं जिसके अंगरेजी अनुवाद ने सन् १६१२ में सुप्रसिद्ध नोवेल पुरष्कार प्राप्तकर योरप में आदर मान पाया। इस कवि-सम्राट् ने पुरष्कार में मिला धन शान्तिनिकेतन में 'विश्व भारती विश्व-विद्यालय' के निर्माण में लगा दिया। 'ये रहस्यवादी थे और शिक्षा शास्त्री भी; ये विचारक भी थे और औपन्यासिक भी; नाट्यकार और गायक, कलाकार, गल्प-लेखक, और अन्तिम रूप में विश्व के लिए भारत के प्रतिनिधि।' इनकी छाया बंग साहित्य के सभी अंगों पर पड़ी है। ऐसे साहित्य-सेवियों के कारण बंग भाषा का साहित्य काफी उन्नत है, और प्रगति करता जा रहा है।

मराठी — महाराष्ट्र-प्रदेश की जनता में शासन की भावना बहुत अधिक रही है। अंगरेजों के यहाँ आने से पूर्व वे ही इस देश के एक बहुत बड़े हिस्से के शासक थे। उनमें भारतीयता के अतिरिक्त हिन्दुत्व की प्रगाढ़ भावना है। यद्यपि लोकमान तिलक ने देश को 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार' है का नारा दिया, तो यहाँ के क्रान्तिकारी बैरिस्टर सावरकर हिन्दू महासभा के प्राण रहे हैं। यही नहीं, स्वर्गीय डा० हेडगवार का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी हिन्दुत्व की भावना से ओतप्रोत है। इस प्रकार हिन्दुत्व की चेतना महाराष्ट्र की अपनी चीज़

है। मराठी का नाट्य साहित्य बहुत उन्नत है। इसका कारण है, वहाँ की रंगमंच की परम्परा। इस भाषा में खासकर इतिहास सम्बन्धी बहुत काम हुआ है, इसने धार्मिक साहित्य में भी अच्छी प्रगति की है। इसके कुछ लेखकों की रचनाएँ दूसरे देशों के बढ़िया से बढ़िया ग्रन्थों से अच्छी टक्कर ले सकती हैं। लोकमान्य तिलक जैसे महापुरुषों ने इस भाषा में अपनी सुविख्यात रचनाएँ लिखकर इसका मान बढ़ाया, एवं अन्य सज्जनों के लिए अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया।

गुजराती—गुजरात की साँस्कृतिक परम्परा अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक भारतीय है। इसका कारण यह है कि इस युग के दो महापुरुष महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी इसी प्रान्त ने दिए। महर्षि दयानन्द ने वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार किया तो महात्मा गाँधी ने वैष्णव संस्कृति की आधुनिक रूप में प्रतिष्ठा की है। प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद गुजरात में दो प्रकार की जागृति हुई है। साँस्कृतिक जागृति के जनक गाँधी जी हैं और साहित्यिक जागृति के जनक कन्हैया-लाल मानिकलाल मुंशी। आधुनिक गुजराती साहित्य में यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद भी यथेष्ट है। नैतिक आदर्शवाले साहित्य में म० गाँधी की आत्म-कथा का महत्वपूर्ण स्थान है। भक्त प्रवर नरसी मेहता का भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे' महात्मा जी को बहुत प्रिय रहा है। आपने व्यक्ति की पवित्रता को केन्द्र मान कर विश्वहित की बात सोची। काका कालेलकर, मशरूवाला, स्व० महादेव देसाई आदि इस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। मेधाणी 'तरुणों का कवि' नाम से विख्यात हैं। इस समय कुछ लेखक प्राचीनता को प्रधानता देते हैं; तो दूसरे नवीनता को। पद्य की अपेक्षा गुजराती का गद्य अधिक विकसित है। गुजराती साहित्य की एक और विशेषता बाल साहित्य है। स्व० गिजू भाई आदि ने अपना जीवन इसी साहित्य में लगा दिया।

गुजराती-साहित्य-परिषद् की स्थापना सन् १६०५ में हो गई थी।

अधिवेशन निश्चित रूप से प्रतिवर्ष न हो सकने के कारण, गत ४४ वर्ष में केवल सतरह ही हुए; पर परिषद् का कार्य बराबर होता रहा है। पिछला (सतरहवाँ) अधिवेशन इस वर्ष जूनागढ़ में श्री मुंशी जी की अध्यक्षता में हुआ, जो गुजराती के सुप्रसिद्ध कलाकार होने के साथ राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अनन्त प्रेमी और प्रचारक हैं।

द्राविड़ भाषाएँ—दक्षिण भारत की भाषाएँ द्राविड़ कुल की हैं, और उनकी प्रवृत्ति उत्तर की भाषाओं से सर्वथा भिन्न है, तथापि सम्पूर्ण भारत के एक राष्ट्र होने के कारण तथा जागृति-काल में राजनैतिक आन्दोलन देशव्यापी होने से, इन भाषाओं का विकास बहुत कुछ उत्तर भारत की भाषाओं के ढँग पर ही हुआ है। इन में तामिल का साहित्य सबसे अधिक है। प्रथम महायुद्ध के बाद से इसकी बहुत उन्नति हुई है। पहले इसमें सामाजिक और धार्मिक साहित्य की ही प्रधानता थी, अब राष्ट्रीय साहित्य की प्रधानता हो गई है। कथा-साहित्य का भी अच्छा विकास हुआ है। इस भाषा का गद्य, पद्य की अपेक्षा, अधिक उन्नत है।

तेलगू गद्य का विकास समाज सुधार आन्दोलन के कारण हुआ। अब उसमें राजनैतिक और वैज्ञानिक यथार्थताओं की अच्छी अभिव्यक्ति हो रही है। मलायलम भाषा में प्रथम महायुद्ध के बाद छोटे-छोटे विषयों पर अँगरेजी ढंग की कविताओं का खूब प्रचार हुआ है। इस भाषा में कहानी की अपेक्षा उपन्यास कम लिखे गए हैं। निबन्धों का बहुत विकास नहीं हुआ है। नाटकों की ओर जनता की रुचि बढ़ रही है। गद्य शैली को सरल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कन्नड़ में प्रथम महायुद्ध के पहले से ही कविता की नवीन धारा बह रही है। गीत-काव्य की ओर अधिक रुचि है। कन्नड़ में नाटक तो हैं पर रंगमंच नहीं; वैसे हाल में जन-नाटक बहुत लिखे गए हैं। उनसे ग्राम-जनता का मनोरंजन और शिक्षण दोनों हुआ है।

प्रान्तीय भाषाओं में, उत्तर में उड़िया, आसामी, नेपाली, सिन्धी

पंजाबी और दक्षिण की कोंकणी आदि भी हैं। इन भाषाओं में साहित्य-निर्माण की गति पहले से तीव्र है।

['आज'-रजत जयन्ती अंक, सन् १९४५, में प्रकाशित श्री० पद्मसिंह शर्मा के लेख के आधार पर।]

प्रचार-कार्य—जगह-जगह भारतीय भाषाओं का प्रचार और उन्नति करनेवाली संस्थाएँ काम कर रही हैं। ये संस्थाएँ प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करती हैं, पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ छपाती हैं, ऊँचे दर्जे के लेखकों को पुरस्कार देती हैं, और सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की ओर दिलाती हैं। सुप्रसिद्ध साहित्यसेवियों को अभिनन्दन-ग्रन्थ देने और उनके नाम पर साहित्यिक मेले करने का काम होने लगा है। उनकी जयन्तियाँ मनाने की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। प्रचारक संस्थाएँ सभी भाषाओं की हैं। हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि सम्बन्धी कार्य करनेवाली कुछ मुख्य संस्थाएँ ये हैं—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर; दक्षिण भारत हिन्दी (हिन्दुस्तानी) प्रचार सभा, मदरास; नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा; आदि। भारतीय राष्ट्र-सभा अर्थात् कांग्रेस का कार्य सन् १९१५ ई० तक प्रायः अंगरेजी में रहा। पीछे उसका क्षेत्र सर्वसाधारण जनता में बढ़ने से, हिन्दी और उर्दू का उपयोग होने लगा। कई नई ग्रन्थमालाएँ विशेषतया राजनैतिक उद्देश्य से निकलने लगीं; पत्र-पत्रिकाओं को भी अच्छा प्रोत्साहन मिला।

राष्ट्र-भाषा और हिन्दुस्तानी—भारतवर्ष की भाषाओं में हिन्दी का व्यवहार सब से ज्यादा है, इसे बोलने और समझनेवाले सब से अधिक हैं; और, यह भारतीय संस्कृति के बहुत नज़दीक है। समय-समय पर अनेक साधु-सन्तों और सुधारकों ने अपने-अपने प्रान्त आदि के भेद-भाव को भुलाकर इसे ही अपनाया। अब तो यह भारतवर्ष के कोने कोने में पहुँच रही है। मदरास और आसाम तक में, उत्साही

स्वयंसेवकों ने इसका प्रचार कर दिया है; वहाँ कितने ही प्रौढ़ और बूढ़े भी इसे सीख चुके हैं या सीख रहे हैं।

कुछ समय से लोगों के सामने यह सवाल है कि हिन्दी और उर्दू के मिले-जुले रूप हिन्दुस्तानी को देश-भाषा या राष्ट्र-भाषा मानकर उसका प्रचार किया जाय। मई सन् १९४२ ई० में म० गांधी ने 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' कायम की। पर पीछे जल्दी ही इसके सदस्यों के जेल चले जाने से इस सभा का काम रुका रहा। नवम्बर १९४४ में सभा का सालाना जलसा हुआ और काम किया जाने लगा। सभा के पहले सम्मेलन में, फरवरी १९४५ में, दो प्रस्ताव पास हुए। पहला प्रस्ताव देवनागरी और उर्दू लिपियों को लोकप्रिय बनाने के सम्बन्ध में था। उसमें कहा गया कि जो इनमें से किसी एक लिपि को जानते हों, उन्हें दूसरी लिपि; और जो किसी भी लिपि को न जानते हों, उन्हें दोनों लिपियाँ सीखनी चाहिएँ। दूसरे प्रस्ताव में एक कमेटी बनाने के लिए कहा गया, जो कोष तैयार करने, व्याकरण और कोष के नियम निश्चित करने और उपयुक्त साहित्य तैयार करने का काम करे। इस दिशा में काम हो रहा है।

यह साफ जाहिर है कि सर्वसाधारण के काम में आनेवाली भाषा जितनी सरल हो, अच्छा है। हमें जान-बूझ कर हिन्दी में कठिन (संस्कृत के भी) शब्दों का समावेश न करना चाहिए और उर्दू (या फ़ारसी, अर्बी) ही नहीं, अंगरेज़ी आदि के भी उन शब्दों का व्यवहार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जिन्हें जनता आसानी से समझ सके। परन्तु ऊंचे साहित्य या वैज्ञानिक विषयों के लिए नए शब्दों की ज़रूरत होने पर, उन्हें संस्कृत से बनाना उचित होगा; कारण, हमें अपनी राष्ट्र-भाषा में विविध प्रान्तों की आवश्यकता का ध्यान रखना चाहिए, और इस विचार से संस्कृत ही हमारी सब से अधिक सहायक हो सकती है।

राष्ट्र-लिपि—जागृति-काल में राष्ट्र-भाषा की भांति राष्ट्र-लिपि का भी विचार और प्रचार होना अनिवार्य था। लिपि में प्रधानतया ये

गुण देखे जाया करते हैं— १) सौंदर्य, (२) शीघ्र-लेखन और (३) निश्चय, अर्थात् जो लिखा जाय, वही पढ़ा जाय; उसमें शंका न हो सके। इनमें निश्चय सबसे बढ़कर आवश्यक है। इस विचार से फ़ारसी (उर्दू) और रोमन लिपि तो बहुत घटिया एवं अयोग्य हैं। इनके अलावा मदरास प्रान्त के बाहर, भारतवर्ष का प्रधान लिपियाँ नागरी, बंगला पंजाबी, मराठी, और गुजराती हैं। इनमें मराठी लिपि नागरी से प्रायः मिलती हैं, और सब बातों का विचार करके देखने से बंगला, गुजराती और पंजाबी लिपियों से, नागरी लिपि कुछ कम नहीं रहती। शीघ्र-लेखन के लिए आवश्यकता होने पर इसके अक्षरों के ऊपर की रेखाएं हटाई जा सकती हैं। ऐसा करते समय ख, ध, भ, को गुजराती से, और ण को पंजाबी लिपि से, ले लेने से यह काम ठीक हो सकता है।

नागरी लिपि का देश में इस लिए भी बहुत मान है कि यह यहाँ की दूसरी सब लिपियों से पुरानी है। पं० केशवप्रसाद शास्त्री का मत है कि बङ्गला अक्षर या हरफ तेरहवीं सदी में बने, तथा गुरुमुखी और गुजराती अक्षर सोलहवीं, सतरहवीं सदी में। कम-से-कम दसवीं सदी तक ये कोई स्वतन्त्र लिपियाँ न थीं। ये हमारे अक्षरों से निकली हैं; जब कि देवनागरी अक्षर अशोक के समय से चले आते हैं; हाँ, समय के साथ, इन में कुछ परिवर्तन होता रहा है।

यदि प्रचार का विचार किया जाय तो हमारे अक्षर बिहार, संयुक्त-प्रान्त, बम्बई, राजपूताना, गवालियर, मध्यदेश और आधे पञ्जाब में प्रचलित हैं, और, बङ्गला, गुरुमुखी, गुजराती अक्षर एक-एक प्रान्त में ही चलते हैं। इस प्रकार सब बातों को मिलाकर देखने से, देवनागरी अक्षर ही राष्ट्र-लिपि के तौर पर काम में आने के योग्य हैं। यह बात अब सर्वमान्य होती जा रही है। समय-समय पर इस बात का प्रयत्न किया गया कि अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य इसी लिपि में प्रकाशित हो, जिससे लोगों को उन्हें समझने में आसानी हो।

देवनागरी लिपि भारतवर्ष की ही नहीं, संसार भर की लिपियों में

सब से अधिक शुद्ध है। हाँ, शिक्षा और छपाई की सुविधा के विचार से, इसके कुछ अक्षरो के साधारण और कुछ के मिले हुए रूप में परिवर्तनो की आवश्यकता मालूम हो रही है। उदाहरण के लिए 'अ' की बारहखड़ी (अ, आ, अि, अो, अु, अू, अे, अै, आदि), तथा मिले हुए अक्षरों को तोड़ कर (यथा ग्र को ग्‌र, क्ष को क्‌ष, क्त को क्‌त) लिखने के विषय में आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन में मध्यप्रान्त और महाराष्ट्र ने प्रमुख भाग लिया है; वहाँ कई पत्र-पत्रिकाओं के प्रयत्न से इसमें बहुत सफलता भी मिली है। अब तो यह प्रश्न अखिल भारतवर्षीय रूप धारण कर रहा है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग), और नागरी प्रचारिणी सभा (काशी), की उपसमितियाँ इस के लिए नियुक्त हैं।

अब फारसी लिपि की बात लें, जिसमें उर्दू लिखी जाती है, और जिसे आम तौर से उर्दू लिपि कहा जाता है। शुरू में इस लिपि का इस्तेमाल मुसलमान ही करते थे। मुसलमान बादशाहों के समय में कितने ही हिन्दुओं ने इसे अपना लिया। पीछे यहाँ अँगरेज सरकार ने इसे अदालतो में जारी करके और सिक्कों आदि पर स्थान देकर इसका महत्व और प्रचार बढ़ाया। कांग्रेस ने भी समझौते की भावना से इस लिपि को देवनागरी की बराबरी का पद दे दिया। सन् १९३७ से १९३९ तक जिन प्रान्तों में कांग्रेस सरकारें थीं, उनमें उनके द्वारा, और दूसरे प्रान्तों में मुसलमान या अंगरेज़ अधिकारियो द्वारा इस लिपि को खूब प्रोत्साहन मिला। इस समय हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, देवनागरी लिपि के साथ, इस लिपि के भी प्रचार की जो कोशिश कर रही है, उसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। कोई लेखक या कार्यकर्ता जितनी लिपियाँ सीखे, अच्छा है; लेकिन हरेक आदमी के लिए दोनों लिपियाँ सीखना न सहल ही है, और न जरूरी ही। इस विचार से इसका बहुत विरोध हो रहा है।

अभी हिन्दू और मुसलमानों को एक-दूसरे के बारे में बहुत शंकाएँ हैं। आशा है, थोड़े-बहुत समय में यह बात दूर हो जायगी, और मुसलमान पक्षपात या तरफदारी छोड़कर देवनागरी लिपि के गुणों

का आदर करेंगे, और इस लिपि को अपनावेंगे।

साहित्य में कुछ बाधाएँ और उनका निवारण— पराधीनता-काल में हमारे साहित्य के प्रचार और वृद्धि में कई बाधाएँ रही हैं। अधिकारी वर्ग प्रेस (पत्र-पत्रिकाओं आदि) की शक्ति को शङ्का तथा भय की दृष्टि से देखता रहा। प्रेस एक्ट के गला-घोटू कानून ने साहित्य के अधिक स्वतंत्र भाग को प्रकाश में नहीं आने दिया, तथा प्रकाशित साहित्य के एक अच्छे भाग को बेआई-मौत मार दिया। साहित्य में अश्लीलता अथवा अन्य दुर्गुण को दूर करने के लिए, निस्संदेह कड़े नियम होने चाहिएँ, परन्तु प्रेस-एक्ट तो देशभक्ति वा राजनीति के ग्रन्थों के छपने में बाधक रहा। [१९३७-३९ में विशेषतया कांग्रेसी प्रान्तों में परिस्थिति कुछ सुधरी रही।] साहित्य के कार्य में, दूसरी बाधा देश में शिक्षा की कमी और निर्धनता की रही। उच्च शिक्षा की कमी से यहाँ अच्छे लेखक बहुत थोड़े थे, और जन-साधारण के अधिकांश अनपढ़ और ग़रीब होने से, लेखकों के कार्य की माँग भी काफ़ी नहीं थी। कुछ सौभाग्यशाली अपवादों को छोड़ कर, प्रायः उन्हें मेहनताना या पारिश्रमिक बहुत कम मिला। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से, उन्हें अपनी आजीविका के लिए, अकसर अपनी रुचि के विरुद्ध कार्य करने पड़े हैं।

अब देश स्वाधीन हो गया है। तथापि ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है, जो लेखकों को आश्रय या ऐसा कार्य दें, जिससे वे निश्चिन्त साहित्यिक जीवन बिता सकें। धनी रईसों, सेठ-साहूकारों तथा स्वयं राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि उत्तम लेखकों की साहित्य-सेवा से जनता को यथेष्ट लाभ पहुँचाने के लिए, उनके निर्वाह या गुज़ारे का अच्छा इन्तजाम करें। कुछ समय से, राष्ट्र-कवि मैथिली-शरण जी गुप्त की अध्यक्षता में 'साहित्यकार-संसद' नाम की एक संस्था कायम है जिसका कार्य लेखकों के हितों की रक्षा करना और ऐसा कोष स्थापित करना है, जिससे संकट में फँसे हुए लेखकों तथा

उनके परिवारों की मदद की जाय।

लेखकों का पारस्परिक सहयोग—यह खेद का विषय है कि लेखकों का आपस में सहयोग बहुत कम है। कोई संस्था ऐसी नहीं है, जो लेखकों को ठीक सलाह दे। बहुधा कई-कई लेखक एक ही विषय की लगभग एक ही तरह की, पुस्तक लिखने में मेहनत करते रहते हैं, अथवा अंगरेजी आदि की एक ही पुस्तक का अनुवाद करने लग जाते हैं। यदि यह मालूम हो जाया करे कि कहाँ कौन लेखक किस तरह की पुस्तक लिख रहा है, तो लेखकों की शक्ति और समय की बड़ी बचत हो। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय की आवश्यक सूचनाएँ छपने लगी हैं। लेखकों के संगठन का प्रयत्न समय-समय पर हुआ है, आशा है, इसमें शीघ्र सफलता मिलेगी।

लेखकों से अनुरोध – हम अपने साहित्य-सेवी भाइयों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे कोई पुस्तक केवल इसी विचार से न लिखें कि बाजार में उसकी खपत हो जायगी। उनका उद्देश्य यह होना चाहिए कि उनके कार्य से भारतवर्ष को इस युग में अपनी जीवन-यात्रा भली प्रकार तय करने में सहायता मिले। दुख की बात है, हमारे अधिकाँश लेखक अपने दीन-दुखी भाइयों की दशा और आवश्यकताओं को प्रकट नहीं करते। कितने ही आदमी क़लम हाथ में लेकर अपने आपको इस दुनिया से दूर के प्राणी मानकर किस्से, कहानी, उपन्यास, नाटक, नख-शिख, नायक-नायिका-भेद आदि की उड़ान में लगे रहते हैं। देश की जागृति चाहती है, कि इसमें सुधार हो। जनता को अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, व्यवहार-शास्त्र, नीतिशास्त्र, कृषि, विज्ञान, देशों का उत्थान और पतन आदि विषयों का जानकार होना बहुत ज़रूरी है। इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाला साहित्य हमें अपनी भाषा में लाने के वास्ते, संसार की उन्नत भाषाओं की सहायता लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे उत्साही सज्जनों की आवश्यकता है जो जनता को इन भाषाओं के अच्छे साहित्य का परिचय कराने में लगे रहें। रूसी,

फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओं के ही नहीं, खास एशियाई भाषाओं के भी जानकारों की हमारे यहाँ बड़ी कमी है। आशा है, इस स्थिति में आवश्यक सुधार होगा और हमारे यहाँ अच्छा साहित्य काफी बढ़ेगा।

ग्रन्थ-प्रकाशन--पुस्तकें लिखने और लिखाने के बारे में कहा जा चुका है परन्तु पुस्तकों के प्रकाशन का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। यद्यपि सभी प्रान्तों में जहाँ-तहाँ प्रकाशन समितियाँ बन गई हैं, बहुत से अच्छे लेखकों की कितनी ही रचनाएँ पड़ी सड़ रही हैं, और छपाने के झंझटों के कारण कितने ही कलाकारों की कलम रुकी रहती है। क्या हमारे प्रकाशक दस फी सदी पुस्तकें भी निस्वार्थ भाव से, नफे की आशा छोड़कर, प्रकाशित करने का विचार न करेंगे? समय का तकाजा है कि वे बाजार की परवाह न कर, अपनी धुन में मस्त पागलों की भांति आगे बढ़े चलें, तभी अगली पीढ़ी के वास्ते रास्ता कुछ साफ होगा। अस्तु, ऐसी व्यवस्था की भी बहुत आवश्यकता है जिससे अच्छी पुस्तकें तैयार होते ही छपादी जाया करें—चाहे, उनके प्रचार से आर्थिक दृष्टि से कुछ फ़ायदा न होकर नुकसान ही रहे। आज-कल अच्छे-अच्छे विषयों की तथा अच्छे ढंग से प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है, परन्तु यह वृद्धि बहुत कम है।

ग्रन्थ-व्यापार--पुस्तकों के व्यापार में भी बड़ा अन्धेर मचा हुआ है। बहुतेरे दूकानदार दूसरों की वे ही पुस्तकें बेचने के लिए रखते हैं, जिनपर उन्हें कमीशन अच्छा मिलता है। कोई-कोई तो एक-दो पुस्तकें अपनी छपाकर रख लेते हैं। इनकी कीमत इतनी अधिक रखी जाती है कि ६० या ७० फी सदी तक कमीशन दिया जा सके, इन पुस्तकों के थोक खरीददार दूसरे स्थानों की पुस्तकों पर भी इतना ही कमीशन लेने की आशा करते हैं; इससे दूसरे प्रकाशक भी अपनी पुस्तक की कीमत अधिक रखने की ओर झुकते हैं। अधिक कीमतवाली पुस्तकों के परिवर्त्तन की नीति भी बहुत अनिष्टकारी है; जिन लोगों ने अपनी पुस्तक की कीमत कम रखी हो, उन्हें परिवर्त्तन करने में सरासर नुकसान

रहता है। इससे पुस्तकों को कीमत बढ़ने की संभावना होती है। इन बातों के विरुद्ध संगठित आन्दोलन होना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—अभी तो जहाँ-तहाँ ऐसे भारतवासी भी मिल जाते हैं जिन्हें यहाँ के साहित्य में कोई विशेषता या खास बात नहीं मिलती, जो पश्चिमी देशों की रचनाओं के लिए ही लालायित रहते हैं। परन्तु वह समय जल्दी आनेवाला है, जब भारतीय ही क्या, समस्त संसार के विद्वान हमारे साहित्य का आदर-मान करेंगे। आवश्यकता है कि हम ऊँची साधना करें, जीवन को अच्छा बनाएँ, और भारत के ऊँचे विचारों को दूसरे देशों के भी मनुष्यों की समझ में आ सकने वाली भाषाओं में प्रकाशित करें। भारतीय सभ्यता से संसार को अहिंसा, निष्काम कर्म, विश्वबन्धुत्व आदि बहुत सी बातें सीखनी हैं, और हमारा साहित्य पश्चिम में पूर्व की ज्योति या रोशनी फैलाएगा और सब भेद-भाव मिटाकर सारे मानव समाज की एकता स्थापित करेगा।

नवाँ अध्याय

मानसिक जागृति

(३) पत्र-पत्रिकाएँ

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है, तो अखबार निकालो॥

"पत्र-पत्रिकाएँ देश के 'कम-खर्च बालानशीं' उपदेशक, सुधारक और आन्दोलक हैं। इनकी उन्नति और स्वतन्त्रता की बड़ी आवश्यकता है।"

समाचारपत्रों का प्रारम्भ--समाचारपत्र की तरह ठीक समय पर प्रकाशित होनेवाला सबसे पहला सरकारी पत्र 'कलकत्ता गज़ट' था। निजी तौर से प्रकाशित पत्र 'बङ्गाल गज़ट' कलकत्ते में, जनवरी

१७८० ई० से आरम्भ हुआ। पीछे इसका नाम 'कलकत्ता जनरल ऐडवरटाइज़र' रखा गया। कुछ दिनों बाद यह पत्र तो चल बसा, परन्तु दूसरे कई योरपियन पत्र निकलते रहे। पहली देशी पत्रिका सन १७६१ ई० में 'कलकत्ता चन्द्रिका' सती-प्रथा का पक्ष लेकर प्रकाशित होने लगी। इसके जवाब (विरोध) में राजा राममोहन राय की 'सम्बाद कौमुदी' निकली। इसमें कभी-कभी सरकारी बातों की सूचना प्रकाशित की जाती थी, राजनैतिक विषयों की टीका-टिप्पणी बहुत कम होती थी। इसका साधारण कार्यक्षेत्र सामाजिक, धार्मिक तथा शिक्षा सम्बन्धी था। राजा साहब प्रेस की स्वाधीनता के उद्योग करनेवालों में अगुआ थे। उन्नीसवीं सदी के पहले दस वर्ष तक यहाँ प्रेस अधिकाँश में अंगरेजों ने चलाया। हिन्दुस्तानियों से चलाया हुआ देशी भाषा का प्रेस पीछे स्थापित हुआ और उसके बाद हिन्दुस्तानियों के चलाए हुए अँगरेजी भाषा के प्रेस का नम्बर आया। सबसे पुराना देशी पत्र 'बम्बई समाचार' है। इसका जन्म सन् १८२२ ई० में हुआ था।

जब से समाचार-पत्र निकले, तभी से सरकार और सम्पादकों के बीच चौथा चन्द्रमा रहा है। योरपियन समाचार पत्र 'बंगाल जनरल' के सम्पादक को सन १७६४ ई० में देशनिकाले का दण्ड दिया गया था। सन् १८३४ ई० तक प्रेस पर सरकार की बड़ी कड़ी निगाह रही, और बहुधा गवर्नमेंन्ट के कामों की समालोचना करनेवालों को देश-निकाला होता रहा। १८३५ ई० में सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने प्रेस को स्वाधीनता दी। इस समय से देशी भाषाओं के प्रेस की उन्नति और अँगरेजी भाषा के प्रेस का विकास हुआ। ईश्वरचन्द्र गुप्त का 'प्रभाकर' देशी भाषा का सम्भवतः पहला पत्र था, जिसने राजनैतिक क्षेत्र में कदम रखा; हाँ वह बहुत फूँक-फूँक कर पाँव रखनेवाला था। सन् १८५७ ई० की राजक्रान्ति के अवसर पर, समाचारपत्रों पर बड़ा नियन्त्रण रहा, परन्तु उससे उनकी स्वाभाविक वृद्धि में खास बाधा न आई। १८६७ तक समाचारपत्रों को कुछ स्वाधीनता रही, परन्तु भारतीय प्रेस की ताकत

को बहुत बढ़ते हुए देखकर अधिकारी-वर्ग चकित हो गया, और १८६६ में पहला प्रेस एक्ट (छापाखाना कानून) बना कर उसने समाचारपत्रों पर कुछ कैद लगा दी। लार्ड मेयो ने १८७० में कुछ बंधन दूर किए, परन्तु १८७२ में वह कानून सारे भारत में जारी कर दिया गया। पीछे लार्ड लिटन ने कितने ही पत्रों का मुंह बंद किया। यद्यपि लार्ड रिपन के समय में कुछ सुधार हुआ, साधारण तौर से नियम ज्यादा कड़े ही होते गए। इन विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, भारतीय प्रेस की उन्नति होती रही।

पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार　सन् १८५७ ई० में इस देश में समाचार पत्रों की संख्या लगभग पाँच सौ थी। इनमें ज्यादातर पत्र भारतीय भाषाओं के थे, जिनका जनता में अच्छा प्रचार था। कुछ सस्ते स्वार्थत्यागी पत्रों ने जनता में जागृति का सन्देश पहुँचाने में खूब योग दिया। इनसे पाठकों को विविध प्रकार के समाचार, विचार और आलोचनाओं का ज्ञान होने लगा। बहुधा अखबार वालों के यहाँ तथा दूकानों पर उत्साही युवक, जो पत्र को स्वयं नहीं पढ़ सकते थे, इकट्ठे होकर उन्हें दूसरों से पढ़वा कर सुनने लगे। क्रमशः गरीब अमीर, सेठ साहूकार, देहाती तथा शहरी सब प्रकार के लोगों में पत्रों का शौक बढ़ने लगा। एँगलो-इंडियन पत्र भी उन दिनों अधिक उदारता से काम लेते थे, और पाठकों को पाश्चात्य विचारों का परिचय देते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अँगरेजी तथा भारतीय भाषाओं के कुछ ऊँचे दर्जे के पत्र निकलने लग गए। ये जनता पर बड़ा प्रभाव डालने वाले और राष्ट्रीय भाव भरनेवाले साबित हुए। पीछे जब एंग्लो-इण्डियन पत्र भारतीय हितों का विरोध करने लगे, तो इन पत्रों ने उनका खंडन करने में भी कुछ कसर उठा न रखी।

हमारे राष्ट्रीय पत्र—हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विषय में कुछ सिलसिलेवार परिचय प्राप्त करने के लिए हिंदी साहित्य समिति, पिलानी (जयपुर), द्वारा प्रकाशित 'हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ' पुस्तक अच्छी

उपयोगी है। हमें यहाँ हिन्दी के सामयिक साहित्य का इतिहास देना नहीं है। हाँ, सभी भारतीय भाषाओं के राष्ट्रीय पत्रों की कुछ विशेष चर्चा करना आवश्यक है। इनकी प्रगति की कथा बहुत-कुछ हमारी राष्ट्रीय प्रगति का इतिहास है। इस विषय की कुछ मुख्य-मुख्य बातें आगे (श्र० विश्वम्भरनाथ जी पांडे, सम्पादक 'विश्ववाणी' के लेख के आधार पर) दी जाती हैं।

'पयामे-आजादी'—भारतवर्ष का प्रथम उल्लेखनीय राष्ट्रीय पत्र फरवरी सन् १८५७ में देहली से प्रकाशित 'पयामे-आजादी' था। यह अपने नाम को सार्थक करता हुआ वास्तव में स्वाधीनता का संदेश देता था। यह नागरी और उर्दू दोनों में लीथो प्रेस पर छपता था। इसके प्रकाशन का कोई निश्चित क्रम न था। कभी सबेरे छपता था, तो कभी शाम को, कभी रोज छपता था, तो कभी एक-एक दिन के अंतर पर। इस पत्र के प्रकाशन की योजना नाना साहब धुन्धुपन्त के मंत्री और सलाहकार तथा सन् १८५७ की महान क्रांति के संयोजक श्री अजीमुल्ला ने बनाई थी। सितम्बर सन् १८५७ में झांसी से 'पयामे आजादी' का एक मराठी संस्करण भी प्रकाशित होने लगा था, किन्तु उसकी केवल एक ही प्रति ब्रिटिश संग्रहालय में प्राप्त है।

सन् १८५७ में श्री अजीमुल्ला, पेशवा नानासाहब के वकील की हैसियत से, विलायत गए थे, पर उनका वास्तविक उद्देश्य योरप के जनमत को भारतीय स्वाधीनता का समर्थक बनाना था और रूस तथा इटली से विशेष रूप से क्रांति के निमित्त अस्त्रों-शस्त्रों और सैनिकों की सहायता प्राप्त करना था। अपनी इस यात्रा में अजीमुल्ला ने योरपीय भाषाओं के कतिपय पत्रों द्वारा भारतीय स्वाधीनता के प्रश्न को योरपीय जनता के सामने रखा था। सम्भवतः इसी यात्रा में उन्होंने 'पयामे आजादी' के लिए प्रेस आदि का प्रबंध भी किया था।

आजकल की भाषा में इस पत्र के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक श्री० मिरजा बेदारबख्त (सम्भवतः सम्राट् बहादुरशाह के पौत्र) थे। यह

पत्र हमारे प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का प्रभावशाली मुख-पत्र था।

कांग्रेस की स्थापना और बंग-भंग के समय—कांग्रेस के जन्म (सन् १८८५) के समय प्रकाशित होनेवाले मुख्य पत्र 'अमृत बाजार पत्रिका' (जो पहले बंगला में निकलती थी, एक दिन रात.रात चोला बदल कर अंगरेजी में निकलने लगी), 'इवनिंग स्टैंडर्ड' और 'हिन्दू' थे। बंग-भंग (१६०५) के बाद भारतीय पत्रकारों ने करवट बदली। श्री० बालकृष्ण भट्ट का 'प्रदीप' पहले सामाजिक क्रान्ति का प्रचारक था, अब गरम दल की नीति का समर्थक हो गया। इस समय के दिग्गज पत्रकारों में स्व० लोकमान्य तिलक, शिशिरकुमार घोष, अरविन्द घोष; सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, सुब्रह्मण्यम अय्यर, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपत राय आदि प्रमुख हैं। इसी जमाने में सरदार अजीतसिंह (स्व० सरदार भगतसिंह के चचा) और सूफी अम्बाप्रसाद जी ने मिलकर 'पेशवा' नाम का उर्दू पत्र निकाला था। उस जमाने में उग्र राजनीति का प्रचार करनेवाले इन दोनों सज्जनों को सन् १६१२-१३ के करीब अपने प्यारे देश से सदा के लिए बिदा लेनी पड़ी। हिन्दी पत्रों में इस समय अभ्युदय, हिन्दी केसरी और भारतमित्र आदि प्रमुख थे, पर श्री० पंडित सुन्दरलाल जी द्वारा सम्पादित 'कर्मयोगी' उग्रतम राजनीति का प्रचारक था। यह प्रयाग से सन् १६०८ से प्रकाशित होने लगा था। इसी समय यहाँ से उर्दू का 'स्वराज्य' नामक तेजस्वी साप्ताहिक निकलने लगा था। सन् १६१२ से, वृन्दावन से श्री राजा महेंद्रप्रताप ने अपने 'प्रेम' द्वारा जनता को राजनीति का संदेश सुनाया।

प्रथम महायुद्ध-काल—प्रथम महायुद्ध के समय, खासकर लखनऊ कांग्रेस (सन् १६१६) के बाद, राष्ट्रीय पत्रों का तापक्रम फिर ऊँचा चढ़ा। इस समय के राष्ट्रीय पत्रकारों में मौलाना मोहम्मद अली, अब्दुलकलाम आज़ाद, एनी बिसेन्ट, फिरोज़शाह मेहता, पंडित मदन-मोहन मालवीय, बी० जी० हार्निमेन और सी० वाई० चिन्तामणि आदि

मुख्य हैं। इस युग के राष्ट्रवादी हिन्दी पत्रों में स्व० गणेशशंकर जी विद्यार्थी का 'प्रताप', पं० सुन्दरलाल जी का 'भविष्य', और पंडित कृष्णाकान्त जी मालवीय का 'अभ्युदय' प्रमुख थे। 'प्रताप' की परिपाटी पर 'सैनिक', 'नवशक्ति', 'कर्मवीर' आदि कई पत्र, निकले। 'कर्मवीर' परिवार के अनुभवी पत्रकार श्री० सिद्धनाथ माधव आगरकर ने पीछे 'हिन्दी स्वराज्य' की स्थापना की।

गांधी युग के तथा म० गांधी के पत्र-सन् १९१९ से देश की राजनीति ने गांधी-युग में प्रवेश किया और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत अनेक पत्र कर्मक्षेत्र में आए। इनमें स्व० बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त द्वारा संस्थापित 'आज,' पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का 'स्वतंत्र' और मूलचन्द जी अग्रवाल का 'विश्वमित्र', और स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी का 'अर्जुन' आदि प्रमुख थे। 'आज' के सम्पादक श्री० बाबूराव विष्णु पराड़कर जी ने गम्भीर निस्पक्ष, निर्भीक और संयत पत्रकारी की अच्छी मर्यादा स्थापित की। श्री० मूलचन्द जी हिन्दी पत्रकारी को व्यवसायिक स्तर पर पहुँचाने वालों में अग्रणी हैं।

होमरूल-लीग, खिलाफत और असहयोग के जमाने में सभी प्रान्तों से विविध भाषाओं के अनेक राष्ट्रीय पत्र प्रकाशित हुए। इनमें कुछ मुख्य पत्र ये थे—मराठी के 'महाराष्ट्र', 'नवाकाल' और 'लोकमान्य' गुजराती का 'सांझ वर्तमान', 'आंध्र पत्रिका'; बंगला के 'वसुमति', 'आनन्द बाजार पत्रिका'; उर्दू के 'उर्दू मिलाप', 'उर्दू प्रताप' 'वन्देमातरम्', 'तेज' 'मदीना' और 'जमींदार'। ये सब पत्र व्यापक राष्ट्रीय पत्रकारी की नींव मज़बूत करनेवाले थे।

तिलक-गांधी संधि-युग के समय उठती हुई नई राष्ट्रीय उमंगों के पथ-प्रदर्शन के लिए स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू ने प्रयाग से 'इंडिपैंडेन्ट' नाम का अंगरेजी दैनिक आरम्भ किया। इसका सम्पादन करते हुए श्री जार्ज जोसेफ, रंगा अय्यर, और देवदास गांधी क्रमशः जेल के मेहमान बने। अपने थोड़े से जीवन से भी यह पत्र स्पष्ट-

वादिता और बलिदान की एक उज्जवल परम्परा छोड़ गया।

राष्ट्रीय पत्रकारी को गांधी-युग की सब से बड़ी देन स्वयं म० गांधी द्वारा सम्पादित 'यंग इंडिया' (अंगरेजी), 'हिन्दी नवजीवन' और 'गुजराती नवजीवन' हैं। इन पत्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त किया। महात्मा जी ने इन पत्रों में समाचार और विचार—इन दोनों धाराओं का समन्वय किया और विज्ञापन बाजी के दोष से दूर रहने का आदर्श उपस्थित किया। आप की सचाई और ईमानदारी निर्विवाद थी, पर आप की स्पष्टवादिता को नौकरशाही आखिर कब तक सहन करती! १२ मार्च १९२२ को आप 'यंग इंडिया' में प्रकाशित तीन लेखों के लिए गिरफ़ार किए गए, और १८ मार्च को आपको ६ वर्ष के कारावास का दंड दिया गया।

असहयोग-काल और उसके बाद के पत्र—असहयोग काल के अन्य पत्रों में स्व० श्री० श्यामसुन्दर चक्रवर्ती का 'सर्वेंट', देशबन्धु चितरंजनदास का 'फार्वर्ड', टी० प्रकाशम का 'स्वराज्य' बाटलीवाल का 'वायस-आफ-इंडिया', जे० एम० सेन गुप्त का 'एडवान्स', श्री० राजेन्द्रप्रसाद जी की प्रेरणा से प्रकाशित होने वाला 'सर्चलाइट' और 'देश', श्री सदानन्द का 'फ्री प्रेस जर्नल', हार्निमेन का 'बाम्बे सेंटीनल', श्री घनश्यामदास जी बिड़ला का 'हिन्दुस्तान टाइम्स' आदि अपने-अपने क्षेत्र में और अपने-अपने समय में प्रमुख रहे हैं। इन सब पत्रों के सम्पादकों में स्व० श्यामसुन्दर चक्रवर्ती पत्रकारी के आदर्शों के उज्ज्वल प्रतीक रहे हैं।

सन् १९३०-४० तक का समय राष्ट्रीय पत्रकारी के इतिहास में फलने-फूलने और फैलने का समय है। इस समय विविध भाषाओं के दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक आदि हजारों की संख्या में प्रकाशित होने लगे। देशी राज्यों से भी सैकड़ों पत्रों का प्रकाशन हुआ। म० गांधी के पूर्वोक्त 'यंग इंडया' और 'नवजीवन' की जगह अब 'हरिजन', 'हरिजन बन्धु' और 'हरिजन सेवक' ने ली। श्री महादेव देसाई इनके

सम्पादक थे। अंगरेजी मासिकों में श्री० रामानन्द जी चटर्जी का 'माडर्न रिवियु' का स्थान बहुत ऊंचा रहा। इसने दूर-दूर तक नाम पाया। इस की सम्पादकीय टिप्पनियाँ बहुत मार्के की रही हैं।

देशी राज्यों के पत्र और पत्रकार—राष्ट्रीय पत्र तो और भी रहे हैं, पर स्थानाभाव से अन्य पत्रों की चर्चा न कर अब हम देशी राज्यां सम्बन्धी पत्रों की बात कहते हैं। इस विषय पर हमने कुछ विस्तार पूर्वक अपनी 'देशी राज्यों की जन-जागृति' पुस्तक में लिखा है। यहाँ संक्षेप में ही कहना है। देशी राज्यों में पत्रों के संकट बहुत अधिक रहे हैं। यहाँ प्रायः निरंकुशता का ही बोलबाला था; फिर, ब्रिटिश सरकार ने राजाओं को सन् १९२२ में नरेन्द्र-रक्षा-कानून से और पीछे १९३५ में देशी-राज्य-रक्षा कानून से सुसज्जित कर दिया था। इससे उनके कुशासन की रक्षा का और भी सुभीता रहा।

पहले की तो बात ही क्या, सन् १९४० तक भी बहुत कम राज्यों ने अपनी सीमा में जन-जागृति करनेवाले लोकप्रिय पत्रों का निकलना सहन किया। राजपूताने में तो किसी-किसी राजा ने अपने यहाँ से साइक्लोस्टाइल से निकाले हुए पत्रों पर भी प्रेस-एक्ट लागू कर दिया। ऐसे कठोर बन्धनों का परिणाम यह हुआ कि जिस किसी सज्जन को राजपूताने में पत्र चलाना हुआ उसे अपना कार्यालय ब्रिटिश इलाके में—अजमेर-मेरवाड़े में—रखना पड़ा। 'राजस्थान', 'नवीन राजस्थान', 'तरुण 'राजस्थान', 'राजस्थान सन्देश', या 'यंग राजस्थान' (अंग्रेजी), आदि पत्रों का अजमेर या ब्यावर से प्रकाशित होने का यही कारण है कि यहाँ राजपूताने के राज्यों की सी निरंकुशता नहीं थी; यद्यपि चीफ-कमिश्नर का शासन भी प्रायः पत्रों के लिए गलाघोंटू रहा है। इसी प्रकार मध्यभारत के राजनीतिक पत्रों को गवालियर और इन्दौर जैसे उन्नत कहे जानेवाले राज्यों में भी आश्रय नहीं मिलता था; उन्हें अपना कार्यालय खंडवा में रखने का निश्चय करना पड़ा, खासकर इसलिए कि खंडवा ब्रिटिश भारत में है। जो बात राजपूताना और

मध्यभारत के बारे में कही गई है, वही कुछ कम-ज्यादा दूसरे देशी राज्यों के बारे में रही है।

कुछ पत्र ऐसे रहे हैं, जिनका खास क्षेत्र रियासती विषयों का नहीं था तथापि उन्होंने, कष्ट-पीड़ित रियासती जनता की खूब सेवा की है। ऐसे हिन्दी पत्रों में श्री० गणेशशंकर जी विद्यार्थी का 'प्रताप' (कानपुर) अग्रणी रहा है। 'अर्जुन' (देहली) और 'सैनिक' (आगरा) आदि ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। अब तो कोई प्रमुख पत्र रियासती विषयों की अवहेलना नहीं करता।

उत्तर और मध्य भारत के पुराने रियासती पत्रकारों में श्री० विजयसिंह जी पथिक का विशेष स्थान है। आपने समय-समय पर विविध पत्रों का सम्पादन किया। राजपूताने के जन-जागरण सम्बन्धी सम्भवतः पहले पत्र 'राजस्थान केसरी' के सम्पादक आप ही थे। यह साप्ताहिक था, और वर्धा से निकला था। इसके बाद आपने अजमेर से विविध पत्रों का सम्पादन किया। आखिर में आपका 'नव संदेश' आगरे से प्रकाशित हुआ।

श्री० सत्यदेव जी विद्यालंकार भी पुराने रियासती पत्रकार हैं। श्री० पथिक जो के वर्धा से आजाने पर 'राजस्थान केसरी' का सम्पादन आपने ही किया था। पीछे आपने 'हिन्दुस्तान', 'विश्वमित्र' और 'नव भारत' आदि दैनिकों का सम्पादन किया, और देशी राज्यों के सम्बन्ध में खूब लिखा।

गुजराती पत्रकारों में श्री० अमृतलाल सेठ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बम्बई से निकलनेवाले आपके 'जन्मभूमि' दैनिक पत्र ने रियासती जनता के हित के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाई। आप के प्रेस का नाम हो 'स्टेट्स पीपल्स प्रेस' है, जिससे अ० भा० देशी राज्य लोक परिषद् का पाक्षिक मुख-पत्र 'स्टेट्स पीपल' प्रकाशित हुआ।

देशी रियासतों से राजनैतिक पत्र थोड़े समय से ही निकलने लगे हैं। अब तो भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया है, और देशी राज्यों की समस्या

बहुत-कुछ हल हो जाने से यहाँ से प्रकाशित होनेवाले पत्रों को पहले-जैसे संकटों का सामना नहीं करना पड़ता। जिन पत्रकारों ने संकट-काल में रियासतों को जन-जागृति में योग दिया, उनका साहस और त्याग प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय है।

विदेशों में भारतीय भाषाओं के पत्र—कुछ प्रवासी भारतीय यहाँ के पत्रों को मंगाते रहते हैं। इसके अलावा विदेशों में भी समय-समय पर हिन्दी या दूसरी भारतीय भाषाओं के पत्र निकालने के प्रयत्न हुए हैं। मिसाल के तौर पर श्री० भाई भवानी दयाल सन्यासी जी ने जेक्स, नाटाल (दक्षिण अफ्रीका) से 'हिन्दी' नाम का अच्छा अंगरेजी-हिन्दी साप्ताहिक कई वर्ष तक निकाला। मोरीशश, फ़िज़ी, केनिया, सुरीनाम, जंजीबार, टंगानिका से हिन्दी या गुजराती के पत्र प्रकाशित हुए हैं। कुछ बन्द हो गए, और कुछ चल रहे हैं। खेद है कि कुछ सज्जन विदेशों में भी अपना पत्र धार्मिक खंडन-मंडन की सामग्री से भरते हैं।

समाचार-पत्र और सरकार; पत्रों का सेंसर—समाचार-पत्रों के प्रति, अंगरेजी हकूमत में, सरकार की कैसी नीति रही, इसका कुछ उल्लेख पहले किया जा चुका है। देशी राज्यों में तो दोहरी हकूमत रही है, इस प्रकार वहाँ अब से कुछ वर्ष पहले तक स्वतंत्र पत्रों का जन्म ही नहीं होने पाया था। अस्तु, यहाँ हम इस बात का कुछ और वर्णन करते हैं कि पराधीनता-काल में सरकार का पत्रों और पत्रकारों से कैसा व्यवहार रहा।

प्रायः सरकारें पत्रों का नियंत्रण करने के लिए सेंसर विभाग रखा करती हैं। यद्यपि इसका उद्देश्य जन-हित होता है, पर, वास्तव में सरकारें इसका उपयोग उन पत्रों का गला घोटने के लिए किया करती हैं, जो उसके विरुद्ध भाव फैलानेवाले मालूम होते हैं। भारतवर्ष में सेंसर विभाग की स्थापना लार्ड वेलज़ली ने की। उसने सन् १७९९ में यह आदेश जारी कर दिया कि छपने से पूर्व सभी पत्र सरकार को दिखाए

जाया करें। यह व्यवस्था सन् १८१८ तक रही, जब कि लार्ड हेस्टिंग्स की सरकार ने इसके बजाय सम्पादकों के निर्देश के लिए कुछ नियम बनाए। लार्ड लिटन की दमन-नीति का उल्लेख पहले किया गया है। उसने भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होनेवाले पत्रों के नियंत्रण के लिए 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बनाया था। पीछे बंगभंग और स्वदेशी आन्दोलन के समय जनता में चेतना की लहर आई देखकर सन् १९०८ में ऐसा कानून बनाया गया कि समाचार-पत्रों की सारी स्वतंत्रता लुप्त हो गई। सन् १९१४ में योरपीय महायुद्ध छिड़ने पर सरकार को अपना अधिकार बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। और उसने पत्रों पर खूब कड़ा सेंसर लगा दिया। सन् १९१९ से सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने क्रूर व्यवहार किया, उसने उसकी खबरों पर ऐसा सेंसर लगाया कि भारतवर्ष में उनका प्रकाशन ही नहीं हो पाया। सरकार ने इस समय तथा इसके बाद भी ऐसा प्रयत्न किया कि विदेश के पत्रों को यहाँ के दमन का आभास न मिले। सन् १९३०-२ के आन्दोलन के समय यहाँ प्रेस-आर्डिनेंस का भारतीय पत्रों पर पूरा दबदबा रहा।

सन् १९४२ के आन्दोलन के समय तो समाचारों पर ऐसा प्रतिबंध रहा कि समाचार-पत्र निर्जीव हो हो गए। उनमें दमन सम्बधी मार्के की खबरें तो छपती ही नहीं थीं; नदी की बाढ़, अन्न की कमी, रेल आदि की दुर्घटना के स्थानीय समाचार भी उस समय तक नहीं छापे जा सकते थे, जब तक कि जिला-मजिस्ट्रेट से अनुमति प्राप्त न कर ली जाय, चाहे उन समाचारों के मिलने का सूत्र कितना ही प्रामाणिक क्यों न हो। सम्पादकीय टीका-टिप्पनी की तो बात ही दूर रही। इस प्रकार जनता को वास्तविक स्थिति का कुछ परिचय ही नहीं होने दिया जाता था, उसे अधिक-से-अधिक अंधकार में रखा जाता था। ऐसी दशा में कितने ही पत्रकारों ने कर्तव्य-पालन में अपनी असमर्थता का अनुभव करके अपने-अपने पत्रों का प्रकाशित करना ही स्थगित कर दिया।

परिस्थिति में परिवर्तन — ईश्वर को धन्यवाद है कि भारतवर्ष अगस्त १९४७ से उस विदेशी सरकार के बन्धनों से मुक्त हो गया है, जिसने हमारे पत्र-पत्रिकाओं—विचार-विनिमय के प्रमुख साधनों—पर ऐसा कड़ा प्रतिबन्ध लगाया था। पराधीनता-काल में भी अपने पत्रकारों और पत्र-संचालकों के त्याग और कष्ट-सहन के फल-स्वरूप हमारे सामयिक साहित्य ने कुछ प्रगति की है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि पहले पत्रों की कीमत बहुत होती थी, मामूली हैसियत के आदमी उन्हें खरीद नहीं सकते थे। ज्यादहतर पत्र धनवानों के सहारे चलते थे, उनके ग्राहक बहुत थोड़े होते थे, अकसर ठीक समय पर नहीं निकलते थे और उनका कोई खास उद्देश्य या नीति नहीं होती थी। अब हालत धीरे-धीरे सुधर रही है। कितने ही अच्छे-अच्छे पत्र ग्राहकों और विज्ञापनदाताओं के सहारे ही चल रहे हैं, निर्धारित समय पर प्रकाशित होते हैं, उनके ढँग में भी नवीनता है, भाषा शुद्ध रखने का बहुत ध्यान रखा जाता है। परन्तु अभी उन्नति की बहुत गुञ्जाइश है।

हमारे कितने ही पत्र उनके सञ्चालकों द्वारा अपनी वस्तुओं के विज्ञापन, सम्प्रदायिकता अथवा दलबन्दी की बातों के लिए निकाले जाते हैं, और जब चाहे बन्द कर दिए जाते हैं। पाठको को उनकी स्थिरता का विश्वास नहीं होता, इसलिए उनके ग्राहक बहुत कम रहते हैं। अधिकाँश मासिक पत्रिकाएँ पाठकों को पञ्चमेल मिठाई देने और सभी विषयों से विभूषित बनने का प्रयत्न करती हैं। वे प्रत्येक अङ्क में दो-दो तीन तीन कहानियाँ देना आवश्यक समझती हैं। कविता के नाम पर भी कुछ रहता है। उन पत्रिकाओं का जीवन दूभर रहता है, जो किसी एक ही विषय की सेवा में लगी रहती हैं। इस समय 'भूगोल' 'विज्ञान' 'खादी-पत्रिका' 'अर्थ-संदेश' 'प्रवासी आदि अपनी खास धुन में चली जा रही हैं, तो यह इनके संचालकों के भारी त्याग का फल है। हमारी ज्यादहतर पत्रिकाएँ 'साहित्यिक'

हैं उनमें कुछ-कुछ चर्चा सामयिक विषयों की भी होती है। हिन्दी में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के लेख खास तौर से 'विश्वमित्र', 'विशालभारत', 'विश्ववाणी' और 'विश्वभारती' आदि में मिलते हैं। 'कल्याण' इस समय लगभग एक लाख छप रहा है, इससे हिन्दी पाठकों की रुचि का कुछ अनुमान हो सकता है।

विशेष वक्तव्य - हमारे साहित्य-कार्य में क्या-क्या बाधाएँ हैं, यह पिछले अध्याय में बताया जा चुका है। पत्र-पत्रिकाओं के मार्ग में कुछ अन्य बाधाएँ भी रही हैं। देश के स्वतंत्र होने तक यहाँ विदेशी भाषा अंगरेजी के राज-भाषा रहने से, तथा तार आदि से सम्वाद मंगाने की सुविधा भी उसी भाषा में होने से देशी भाषाओं के पत्रों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फिर, कितने ही सम्पादकों ने अपने महान उत्तरदायित्व को नहीं समझा। उन्हों ने इस कार्य के लिए विशेष तैयारी नहीं की, और न इस विषय के आवश्यक साहित्य का अध्ययन ही किया। अब इस दिशा में क्रमशः सुधार हो रहा है। सम्पादकों के संगठन के लिए भी अधिक प्रभावोत्पादक प्रयत्न किए जा रहे हैं। परन्तु इस समय एक नया खतरा बढ़ रहा है। पूँजीपति अपनी सत्ता बढ़ाने के लिए अच्छे-अच्छे पत्रों पर अधिकार जमा रहे हैं। स्वाधीन पत्रकारी का दम घोटा जा रहा है। स्वतंत्र विचार-धारा वाले सम्पादकों का निर्वाह कठिन हो रहा है।

हमें पूरी आशा है कि हमारे सामयिक साहित्य की उन्नति, वृद्धि तथा प्रचार की वर्तमान बाधाएँ बहुत समय तक न रहेंगी। देश का सौभाग्य-सूर्य उदय होगा। हम इस साहित्य के सम्बन्ध में अंगरेजी आदि भाषाओं के आसरे न रहेंगे, हम स्वावलम्बी होंगे; हम दूसरों से कुछ गुण लेंगे तो उन्हें कुछ बहुमूल्य वस्तु दे भी सकेंगे। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतीय संस्कृति को अपना अहिंसा, प्रेम, त्याग, सेवा और भाईचारे का सन्देश संसार में फैलाना है; इस महान कार्य में हमारा सामयिक साहित्य काफी हिस्सा लेगा।

दसवाँ अध्याय

मानसिक जागृति

(४) विज्ञान और आविष्कार

विज्ञान की प्रगति तो हो रही है पर मनुष्य की बुद्धि का संतुलन उसका साथ नहीं दे रहा है। मानवता के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो रहा है और संसार की गति अस्त-व्यस्त है। वैज्ञानिक बन्धुओं को मानव विकास की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना होगा कि विज्ञान की प्रगति से संसार का समुचित कल्याण होने लगे।
—*जवाहरलाल नेहरू*

आविष्कार करनेवाली प्रतिभा एक दैवी सम्पत्ति है, जिसका सदुपयोग रचनात्मक वस्तुओं के निर्माण से होना चाहिए; मानव प्राणियो के संहार में इसका उपयोग नहीं होना चाहिए।
—*डा० शंकर बिसे*

प्राकथन—वैज्ञानिक जागृति का मतलब यह है कि हम सृष्टि की विविध घटनाओं और दृश्यों—सूर्योदय, बादलों की गर्ज, बिजली की चमक, वर्षा, ओलों के गिरने, ओस, बर्फ, सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, भूकंप और बाढ़ आदि—से हैरान या परेशान न होकर इनके रहस्यों को समझने की, 'क्यों' और 'कैसे' का जवाब पाने की, कोशिश करें; और, जल, वायु, भाप, और बिजली आदि की विविध शक्तियों के नियम जान कर मानव समाज के लिए अच्छे उपयोगी अनुसन्धान या खोज करें। विज्ञान संसार की अनेक निकम्मी मालूम होनेवाली चीजों को भी उपयोगी और बहुत कीमती बनाने के उपाय निकालता है;

आदमी की मेहनत को कम करता है; हमारे हाथ-पाँव आदि की शक्ति बढ़ाने के लिए नए-नए यन्त्रों का आविष्कार करता है, और किसी बात का अनुमान या विचार करने में बुद्धि और तर्क के उपयोग की प्रेरणा करता है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति वाला मनुष्य धार्मिक, सामाजिक, या आर्थिक, आदि किसी प्रथा में अन्ध-विश्वास या अंध-श्रद्धा न रखकर उसके सम्बन्ध में सत्य की खोज करता है। विज्ञान का क्षेत्र अनन्त है; जड़-चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, हरेक विषय का अपना-अपना विज्ञान है।

आधुनिक विज्ञान-युग—खासकर उन्नीसवीं सदी से विज्ञान ने संसार का अजीब कायापलट किया है। भाप, और पीछे बिजली आदि की शक्तियों का आविष्कार हो जाने से नए-नए यंत्र बनने लगे। रेल, मोटर, ट्रामवे, हवाई जहाज, पनडुब्बियाँ, तार, बेतार का तार, टेलीफ़ोन, रेडियो आदि ने इस समय को मशीनों का युग बना दिया है। लोगों की रोज़मर्रा की ज़रूरतों की चीजें अब कल-कारख़ानों में तैयार होती हैं। बात-बात में यन्त्रों से काम लिया जाता है। और, यह प्रवृत्ति ऐसी तेज़ी से बढ़ती जा रही है कि इसका कहाँ अन्त होगा, इसकी कुछ कल्पना करते नहीं बनती।

भौतिक परिवर्तनों का प्रभाव मानसिक जगत पर भी पड़ रहा है। श्रद्धा से बुद्धि का, रूढ़ियों से तर्क का, और अनुमान से प्रत्यक्ष का विकट संघर्ष हो रहा है। मनुष्यों के आचार-विचार में क्रांति हो रही है। आमदरफ्त के साधनों ने दूर-दूर के लोगों का आपस में मिलना-भेंटना आसान कर दिया; आमदरफ्त बढ़ने से प्रांतीयता का भाव घटने लगा, एक स्थान के निवासियों को दूसरे स्थान वालों के विचार, रहन-सहन तथा सुख-दुखों का परिचय मिलने लगा, और भौगोलिक भेद दूर होने लगा। डाक, तार टेलीफोन, समुद्री तार आदि ने जनता की आवाज़ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, नहीं-नहीं, सात समुद्र पार दूसरे देशों तक पहुँचने में, समय का बहुत अधिक लगना रोक दिया; लोगों के शारीरिक, व्यापारिक और मानसिक सम्बन्ध बढ़ाने में विलक्षण

सुगमता कर दी। संसार कई बातों में एक हो रहा है, देशों की सीमाएँ अब पहले की तरह उसके अलग-अलग टुकड़े नहीं करतीं।

भारतवर्ष में वैज्ञानिक प्रगति—भारतवासियों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय बहुत पुराने ज़माने* में दे दिया था; गणित, ज्योतिष, रसायन, वैद्यक, वनस्पति आदि के इनके अनुसन्धान इस समय भी बड़े महत्व के माने जाते हैं। तो भी विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगों की ओर, आधुनिक दृष्टि से इनका कार्य बहुत कम रहा है। असल में इन्होंने इसे जीवन में विशेष महत्व नहीं दिया। इसी लिए भारतवर्ष आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों में बहुत कम आगे बढ़ा। इस युग में हमने अधिकतर पश्चिम वालों के आविष्कारों और यन्त्रों से लाभ उठाया है। आवश्यकता है कि हमारी रुचि और मनोवृत्ति भी वैज्ञानिक अनुसंधान और आविष्कारों में बढ़े; और हम भी संसार के विज्ञान-ज्ञान को बढ़ाने में मदद दें।

भारतवर्ष में विज्ञान का विकास बारहवीं शताब्दी से रुका ही रहा। उन्नीसवीं सदी में उसका पुनर्जागरण हुआ। इस सदी के पूर्वार्द्ध में विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए कितनी ही संस्थाएँ स्थापित हुईं, जिनमें 'एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' विशेष उल्लेखनीय है। इस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी, अपने स्वार्थ को ध्यान में रखते हुए, कई विभाग स्थापित किए, जैसे पुरातत्व विभाग, सर्वे (पैमाइश) विभाग, अन्तरिक्ष-विज्ञान-विभाग आदि। इनके पदाधिकारी प्रायः अपने विषय के अच्छे जानकार होते थे, इसलिए इनसे भी विज्ञान के कई अंगों की कुछ-कुछ प्रगति हुई। इसका कुछ संक्षिप्त परिचय आगे ('आज', रजत जयन्ती अंक, सन् १६४५, में प्रकाशित श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव के लेख के आधार पर) दिया जाता है।

रसायनशास्त्र—रसायनशास्त्र में अनुसन्धान-कार्य आरम्भ करने का श्रेय स्व० आचार्य प्रफुल्लचन्द राय को है। आपको आधुनिक भारतीय रसायनशास्त्र का पिता कह सकते हैं। आपने अपने शिष्यों में भी

रसायनशास्त्र के प्रति जिज्ञासा जगाई। आपने सन् १८९२ में आठ सौ रुपए की छोटी सी पूँजी से 'बंगाल-केमिकल एण्ड फर्मास्युटिकल वर्क्स' की स्थापना की थी। कलकत्ते के प्रेसीडेन्सी कालेज में काम करने के उपरान्त वे इस कारखाने के काम में लगे रहते। आपके अनवरत परिश्रम से यह कारखाना देश की आधुनिक प्रणालो से औषधि-निर्माण करने वाला प्रमुख संस्था, बन गया। आचार्य राय ने सिद्धान्तमूलक रसायनशास्त्र में स्वयं भी अनेक महत्वपूर्ण अनुसन्धान किए आपके सुयोग्य शिष्य डा० नीलरत्न धर ने रासायनिक क्रियाओं पर सूर्य-रश्मियों के प्रभाव के विषय में कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किए हैं। हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर जोशी ने विद्युत-स्फुलिंग के प्रकाश का रासायनिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय में अनेक प्रयोग किए हैं।

पंजाब में डा० सर शान्तिस्वरूप भटनागर ने अणुओं और उनके चुम्बकीय गुणों पर विशेष अनुसन्धान किए हैं। भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए भी आप ने कई उपयोगी सुझाव किए हैं। मिट्टी के तेल की रोशनी बढ़ाना, बिना गन्ध का मोम तैयार करना, कपड़े की मिलों के गूदड़ से पशमोना रेशम तैयार करना, वनस्पति तेलों से कलों की धुरी को चिकना रखनेवाला तेल तैयार करना—यह आप की कुछ बहुमूल्य देन हैं।

बायोकेमिस्ट्री की ओर से भी भारतीय रसायन-शास्त्री उदासीन नहीं रहे हैं। भिन्न-भिन्न दालों के पोषक तत्वों के विषयों में बहुत खोज की गई है। विभिन्न जाति के चावलों की भी विस्तृत जांच की गई है। इनसे यह प्रमाणित हो गया है कि मशीन के कुटे और छटे हुए चावल से फासफोरस और अन्य पोषक तत्व निकल जाते हैं। विटामिनों के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान किए गए हैं।

भौतिक विज्ञान—आधुनिक काल में पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान दिलाने का श्रेय स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र

वसु को है। आपने १८६५ में रेडियो की तरंगों के सम्बन्ध में स्वयं नए ढँग के यन्त्र बनाकर अनेक प्रयोग किए और इन तरंगों के अनेक गुणों का पता लगाया। पीछे आपने वनस्पति-विज्ञान को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और इस क्षेत्र में सार्वभौम ख्याति प्राप्ति की।

भौतिक विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय वैज्ञानिकों के अधिकाँश अनुसन्धान प्रथम श्रेणी के सिद्ध हुए हैं। डा० मेघनाथ शाह ने यह प्रमाणित कर दिया कि सूर्य के वर्ण-मंडल के रश्मिचित्र की कुछ रेखाएँ अपेक्षाकृत स्थूल इसलिए दिखाई देती हैं कि अल्प दबाव तथा अत्यधिक तापक्रम के कारण सूर्य के वायुमण्डल की गैसों के परमाणु विद्युत-मय (आयनाइड) हो जाते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कोठारी ने नक्षत्रों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करके दबाव द्वारा उत्पन्न होने वाले परमाणुओं के विद्युत्-मय बनने का सिद्धान्त निकाला, इससे ज्योतिर्विज्ञान की अनेक समस्याएँ हल हो गईं। प्रकाश के क्षेत्र में सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है, 'रमन-प्रभाव' की खोज ने विज्ञान जगत् में खासी हलचल मचा दी। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि परिक्षिप्त होने पर प्रकाश के रंगों में भी परिवर्तन हो जाता है। इस खोज के कारण सर रमन को संसार का सर्वोच्च वैज्ञानिक पुरस्कार 'नोबल प्राइज़' प्राप्त हुआ।

वनस्पति-विज्ञान — वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान सबसे पहले सर जगदीश चन्द्र वसु ने किए। आपने इस बात का वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत किया कि क्षुद्र-से-क्षुद्र वनस्पति में भी मज्जातन्तु होते हैं, अतः शीत, मादक द्रव्य और विष का असर पौदों पर भी होता है। आपने अपने बनाए हुए यन्त्रों की सहायता से पौधों के हृदय की धड़कन, नाड़ियों द्वारा नीचे से ऊपर रस के प्रवाह आदि के दर्शन कराए। आपके द्वारा स्थापित 'बोस रिसर्च इन्स्टीट्यूट' में आपके शिष्यों ने अनेक मौलिक गवेषणाएँ की हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० बीरबल साहनी ने धरती के भीतर गड़ी हुई वनस्पतियों के बारे में खोज करके पुरातत्व से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही महत्वपूर्ण बातों का पता लगाया है। वनस्पति के अवशेषों का वर्गीकरण तथा कालविभाजन करके आपने पुरातत्व विज्ञान की प्रगति में अच्छी सहायता दी।

इन्जीनियरिङ्ग—नहरों के निर्माण के छोटे-छोटे माडेल बनाकर भारतीय इञ्जीनियरों ने जो अनुसन्धान किए, उन्होंने यहाँ सिंचाई की अनेक समस्याओं को हल कर दिया और नदियों में विशालकाय बाँध बाँधकर जल-संग्रह के आयोजन में बड़ी सहायता दी। रेलों के विस्तार के सिलसिले में पुलों के निर्माण में भी भारतीय इंजीनियरों ने ऊँचे दर्जे की प्रतिभा का परिचय दिया है।

चिकित्सा-शास्त्र—प्राचीन काल में भारतवासियों ने वैद्यक-शास्त्र में बड़ी उन्नति की थी, परन्तु इस युग में प्रगति नहीं की। अब जहाँ देखो, शहरों और नगरों में पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली, खासकर एलोपेथी का प्रचार है, और भारतवासी बड़ी मात्रा में विदेशी औषधियों का सेवन कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अंगरेजी हकूमत में, यहाँ सरकार ने वैद्यों और देशी औषधियों को प्रोत्साहन नहीं दिया। अब देश स्वाधीन है, और राष्ट्रीय सरकार इस ओर ध्यान दे रही है। यहाँ की निर्धन जनता के लिए होम्योपेथी विशेष उपयोगी है, इसे भी यथेष्ट प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

भारतवर्ष के एक प्रदेश के जलवायु से दूसरे प्रदेश के जलवायु में काफी अन्तर है। इससे लोगों के रहन-सहन और खान-पान आदि में बहुत अन्तर है। इसलिए एक प्रान्त के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रयोग अनेक दशाओं में दूसरे प्रान्त के लिए उपयोगी नहीं होते। फिर भी हैज़ा, प्लेग, काला आज़ार, मलेरिया और बेरी-बेरी सरीखे भयानक रोगों के विषय में महत्वपूर्ण अनुसन्धान हुए हैं। कुष्ट रोग के बारे में यह साबित हुआ है कि प्रारंभिक अवस्था में ठीक इलाज होने से यह दूर हो सकता है।

अधिक बढ़ा हुआ रोग भी औषधोपचार से इस अवस्था पर लाया जा सकता है कि इससे छूत लगने का डर न रहे। रुधिर-प्रवेश चिकित्सा के विषय में कलकत्ते में प्रशंसनीय काम किया गया है। वहाँ के रुधिर-बैंक और रुधिर-प्रवेश के औज़ार बहुत उत्तम हैं।

अपनी बहुमुखी प्रतिभा से पश्चिमी संसार में 'भारतीय एडीसन' का नाम पानेवाले डा० विसे की 'आटोमोडोन नाम की दवाई तेज़ कृमि-नाशक होतेहुए भी विष रहितहै; यह छूत की बीमारियों, जिगर, रक्त-दोष, मूत्र-दोष, दोषी बुखार, और पेट के दर्द में बहुत गुणकारी है। आपने कई प्रकार के बिजली के यन्त्र भी बनाए हैं; एक यन्त्र से, सीधे सूर्य की बिजली ली जा सकती है। अब टाइप राइटर और मुद्रण (छपाई) के सम्बन्ध में लिखा जाता है।

टाइप रायटर और मुद्रण सुधार—अंगरेजी के 'टाइप राइटर' बनने के बाद पाश्चात्य कम्पनियों ने हिन्दी के भी 'टाइप राइटर' बनाए, परन्तु उनसे लिपि-सौन्दर्य की रक्षा न हो सकी। अन्त में श्री० सेठ जमनालाल जी बजाज, वर्धा, के प्रोत्साहन से, अमरावती के श्री० अत्रे महाशय ने नागरी का एक सुन्दर टाइप करनेवाला यंत्र तैयार किया। 'टाइप राइटर' से एक बार में टाइप किए हुए सफे की तीन-चार से ज्यादा कापी अच्छी नहीं निकलतीं। यह साधारण पत्र व्यवहार आदि के काम के लिए ही उपयोगी होता है।

पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की हज़ारों प्रतियाँ छापनी होती हैं, उसके लिए आजकल दो रीतियाँ प्रचलित हैं :—(१) सीसे के ढले हुए अक्षरों को जोड़कर छापना, (२) पत्थर पर लिखे हुए अक्षरों से छापना। इन दोनों रीतियों में से पहली अधिक प्रचलित है। आधुनिक काल में यहाँ प्रेस का जन्म अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में हुआ। पहले पहल सन् १७७८ ई० में हुगली में बङ्गला भाषा का प्रेस खोला गया। उसके टाइप की देखा-देखी देवनागरी के, और पीछे दूसरी भाषाओं के, टाइप बने, और प्रेस खुले।

छापेखाने का बीज भारतवर्ष में बहुत पहले से था। मुहर पर अक्षर खोद कर छापने (मुद्रा) की प्रथा तो यहाँ पुराने जमाने से चली ही आती थी। श्री० डाक्टर जोगेन्द्रनाथ घोष ने अपने एक लेख में जो सन् १८७० में नेशनल सोसाइटी में पढ़ा गया था, इस बात का जिक्र किया है कि सन् १७८० ई० के लगभग बनारस जिले में खोदने से दो प्रेस निकले थे, जिनमें वर्तमान प्रेसों की तरह सब सामान था और टाइप जोड़ने का ढङ्ग भी बहुत-कुछ आजकल के जैसा ही था। पुरातत्व (प्राचीन काल सम्बन्धी विद्या) जाननेवाले अंगरेजों का यह मत है कि यह प्रेस कम से कम एक हजार वर्ष पहले का है। अस्तु; छापे का व्यापक प्रचार यहाँ अंगरेजी राज्य से पहले होने का विशेष पता नहीं चलता।

देवनागरी के अक्षर, मात्रा, चिह्न और मिले हुए अक्षर आदि बहुत अधिक हैं। इस लिपि का प्रेस रखने के लिए 'केस' भी बहुत चाहिएँ। इससे टाइप और केसों में खर्च बहुत पड़ता है। फिर, कम्पोज (अक्षर जोड़ना) सीखने के लिए टाइपों के 'घर' याद करने में समय और मेहनत अधिक लगने से, काम महँगा पड़ता है, पत्र-पत्रिकाएँ तथा पुस्तकों की कीमत अधिक रहती है, उनका प्रचार कम हो पाता है। हाथ से कम्पोज करने की कठिनाइयों को दूर करने के लिए अब 'मोनोटाइप' यंत्र का आविष्कार किया गया है, जिसमें मशीन द्वारा ही 'टाइप' ढलता और कम्पोज होता है। रोमन लिपि के (जिसमें अंगरेजी आदि भाषाएँ लिखी जाती हैं), छब्बीस अक्षरों को इस पर ठीक बैठाना आसान था। परन्तु, भारतीय लिपियों को इस यंत्र पर जमाना बहुत मुशकिल था। देवनागरी लिपि के सैकड़ों अक्षर, चिह्न, मात्राओं और संयुक्त अक्षरों को इस पर कैसे जमाया जाय, इस विषय में महाराष्ट्र विद्वानों ने वर्षों विचार किया। अन्त में अनाथ विद्यार्थी गृह, पूना, के श्री शंकरराव जी दाते बी० ए० ने प्रयत्न करके इसमें सफलता प्राप्त की। इस दिशा में दूसरा आविष्कार 'लाइनोटाइप'

यंत्र का है। इसमें एक-एक अक्षर के बजाय पूरी लाइन या पंक्ति एक ही शीशे के टुकड़े में ढली हुई निकलती है। पंक्ति जुड़ी रहने से उसे उठाने में सुभीता तथा सुगमता होती है। इस यन्त्र का उपयोग भी पहले रोमन लिपि के लिए हुआ। देवनागरी लिपि के वास्ते इसका उपयोग करने के लिए श्री० हरिगोविन्द जी गोविल ने इस लिपि के सैकड़ों अक्षरों, चिह्नों और मात्राओं तथा संयुक्ताक्षरों को केवल ९० टुकड़ों में बांटने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अब छपाई की बात लें। पहले यह काम हाथ से चलनेवाले छापेखानों ('हैंड-प्रेसों') में होता था। पीछे, प्रेस भाप या बिजली से चलाए जाने लगे। विशेषतया इश्तहार या सूचनाएँ आदि छापने के छोटे कार्यों को जल्दी करने के लिए 'ट्रेडल' का उपयोग होने लगा। अखबार और पुस्तकों को अधिक संख्या में छापने के लिए 'सिलिंडर' काम में आने लगे। एक दिन में आम तौर पर हैंड-प्रेसों पर एक हजार, ट्रेडल' पर पांच छः हजार, 'सिलिंडर' पर सात-आठ हजार प्रतियाँ छपती हैं। जनता में जागृति और शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ अधिकाधिक मुद्रण शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हो रही है, और इसके फल-स्वरूप अब 'रोटरी' जैसे यन्त्रों का आविष्कार हो गया है, जिनमें एक दिन में कई लाख कागज आसानी से छप सकते हैं।

अभी मोनोटाइप, लाइनोटाइप, और रोटरी आदि यन्त्रों का देवनागरी आदि स्वदेशी लिपियों की छपाई के लिए कम उपयोग हो रहा है। इसका कारण कुछ तो इन यन्त्रों का मूल्य अधिक होना है; और, कुछ यह है कि जनता में शिक्षा का प्रचार कम है, और ज्यादातर आदमी बहुत गरीब हैं। इस लिए अभी यहाँ बड़े पैमाने का प्रकाशन कम हो रहा है। जैसे-जैसे इन बातों में सुधार होगा, इन यन्त्रों का अधिक प्रचार होगा, और जनता की जागृति बढ़ेगी।

युद्ध-काल के वैज्ञानिक आविष्कार—दूसरे योरुपीय महायुद्ध में, जो सन् १९३९ से १९४५ तक रहा, बहुत से आविष्कार हुए हैं।

उनमें से बहुत से तो ऐसे हैं, जिनका विशेष उपयोग लड़ाई में ही होता है, और जो विनाश या हिन्सा करनेवाले हैं। लेकिन कुछ आविष्कारों का उपयोग लोकहित के लिए भी हो सकेगा। मिसाल के तौर पर मच्छर, मक्खियों और दूसरे कीड़ों को मारने के लिए डी० डी० टी० आदि औषधियाँ तैयार की गई हैं, इन दवाइयों के उपयोग से बहुत सी ऐसी जगहों में भी आदमी अच्छी तरह रह सकेंगे, जहाँ इस समय मलेरिया आदि बीमारियों का बहुत प्रकोप रहता है। कुछ विष ऐसे मालूम किए गए हैं, जिनसे कीड़े मकोड़े तथा जंगली जानवर नष्ट करके, खेती तथा जंगलों की उन्नति की जा सकेगी। 'पैनिसिलिन' आदि कुछ कीटाणुनाशक औषधियों का भी आविष्कार हुआ है, जो खून में ज़हर फैलने, निमोनिया, और तालू या जीभ की जलन की बीमारियों में बहुत गुणकारी हैं। डाक्टर बी० सुब्रह्मण्यम् ने बैंगलौर के इन्डियन इन्स्टीट्यूट में पैनेसिलिन के निर्माण के लिए अनुसन्धान किए हैं। आशा है निकट भविष्य में, भारत अपनी आवश्यकता के लिए काफी पैनिसिलिन तैयार कर लेगा।

महायुद्ध के समय हवाई जहाजों की बहुत उन्नति हुई है। अब यात्रा और यातायात यानी माल-ढुलाई का काम बहुत जल्दी, कम खर्च से, और बड़ी आसानी से हो सकेगा। ऐसे तरीके निकाले गए हैं कि सिर्फ कुछ घण्टों के अन्दर ऐसी इमारत खड़ी कर दी जाय, जिसमें एक परिवार या कुटुम्ब की सब मामूली ज़रूरतें पूरी हो सकें; और इस तरह बहुत थोड़े समय में ही कस्बा या नगर बनाकर जंगल में मंगल कर दिया जाय। इन उदाहरणों से यह साफ ज़ाहिर है कि संसार के नवनिर्माण की योजनाओं को अमल में लाने में विज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा होगा। ये आविष्कार आगे-पीछे भारतवर्ष में अपना प्रभाव दिखाए बिना न रहेंगे।

स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धान—आधुनिक युग में, हमारे यहाँ विज्ञान की जो प्रगति हुई है, वह बहुत ही कम है।

इसका कारण यह है कि पराधीनता के वातावरण में हमारे वैज्ञानिकों को जैसा चाहिए, प्रोत्साहन और सहायता नहीं मिली। तथापि यह सिद्ध हो गया कि अनुकूलता प्राप्त होने पर भारतवासी उच्च कोटि की वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दे सकते हैं। सन् १९४१ में खासकर युद्ध में सहायता देने के लिए यहाँ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान-परिषद् की स्थापना की गई थी। राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने के बाद औद्योगिक उन्नति में विज्ञान की सहायता देने के लिए परिषद् ने भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों—देहली, पूना, जमशेदपुर, कलकत्ता और धनवाद—में कई राष्ट्रीय अनुसंधान-प्रयोगशालाएँ स्थापित की हैं।

स्वतन्त्रता मिलने पर भारत सरकार की सहमति से परिषद् ने एक परमाणु-शक्ति-अनुसंधान-बोर्ड बनाया है। परमाणु-शक्ति के उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण कच्चा माल थोरियम ट्रावनकोर में अधिकता से मिलता है, जिसकी निर्यात पर भारत सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया है। रंगाई की वस्तुओं के संबंध में दो विशेषज्ञ डा० वी० वी० डे (मद्रास) और डा० के० वेन्कटरमन (बंबई), अनुसंधान कर रहे हैं। पैनिसिलिन, इंसलोन, एड्रेनिलीन, पिटुटरीन थाइरोक्सीन तथा मलेरिया विनाशक अन्य औषधियाँ भी परिषद् की औषधि-समिति के तत्वावधान में प्रयोगशालाओं में तैयारी की गई हैं। इसी प्रकार अन्य देशो औषधियों की रासायनिक एवं चिकित्सा संबन्धी गुणों की परीक्षा की जा रही है। रद्दी जूट और अन्य रासायनिक द्रव्यों से प्लास्टिक्स बनाए गए हैं। कारवन डायक्साइड, कृत्रिम टिटेनियम डायक्साइड आदि बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं। मद्रास की प्रांतीय रेडियो-प्रयोगशाला में वैद्युत कंडेंसर तथा रेडियो की बैटरियां बनाने के लिए एक योजना के विषय में अन्वेषण किया जा रहा है।

औद्योगिक उन्नति में विज्ञान का पूर्णतया उपयोग करने के उपाय काम में लाए जा रहे हैं। परिषद् के तत्वावधान में एक औद्योगिक

संबन्ध-समिति बनाई गई है। परिषद् कई अन्य योजनाओं पर विचार कर रही है जिनसे अनुसंधान एवं उसके उपयोग के विषय में उद्योगों के बीच रहने वाला अंतर समाप्त हो जायगा तथा औद्योगिक महत्व के अनुसंधानों के विषय में परीक्षण हो सकेंगे।

जून १६४८ से वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए एक पृथक् विभाग, प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी के अधीन स्थापित किया गया है। यह वैज्ञानिक प्रकाशन का कार्य विशेष रूप से करेगा। इससे अब यहाँ वैज्ञानिक साहित्य की कोई कमी न रहेगी।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस—इस संस्था का पहला अधिवेशन १६१४ में, सर आसुतोष मुकर्जी के सभापतित्व में हुआ था। इसके अधिवेशनों में देश के विविध स्थानों के वैज्ञानिक अपने क्षेत्र के अनुसन्धानों पर निबन्ध पढ़ते और आलोचना करते हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं—गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन, भूतत्व, भूगोल, जीव-विज्ञान, बनस्पति विज्ञान, कृषि, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के विशेष अधिवेशन होते हैं। विदेशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भारत में निमंत्रित करके इस संस्था ने इस देश का अन्य देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाया है। सन् १६३८ में इसकी रजत-जयन्ती बड़े समारोह से मनाई गई थी। जनवरी १६४६ में इस संस्था का ३६ वाँ अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय में डा० के० एस० कृष्णन के सभापतित्व में हुआ। इसका उद्घाटन भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया था। इसका कार्य १३ विभागों में विभाजित था, और प्रत्येक भाग का अलग-अलग सभापति था। सदैव की भाँति कांग्रेस-कार्य का एक विशेष अंग उपयोगी विषयों का वाद-विवाद था, जो बहुत शिक्षा-प्रद था।

अन्य वैज्ञानिक संस्थाएँ—अ० भा० विज्ञान-कांग्रेस के अतिरिक्त भारत की अन्य प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाएँ ये हैं—विज्ञान-परिषद् प्रयाग; यह ३५ वर्ष से हिन्दी और उर्दू द्वारा जनता में विज्ञान-साहित्य

का प्रचार कर रही है। 'इण्डियन केमिकल सोसाइटी' यह रसायन सम्बन्धी अच्छा काम कर रही है। 'इण्डियन बोटेनिकल सोसाइटी'; इसका उद्देश्य पौधों के अध्ययन और अन्वेषण को प्रोत्साहन देना है। 'एग्रीकल्चरल रिसर्च सोसइटी'; यह पहले पूसा (बिहार) में थी, अब देहली में है, इसमें भारतीय कृषि सम्बन्धी ऊँची शिक्षा का कार्य होता है। 'इण्डियन इन्स्टीच्यूट आफ़ साइंस' बङ्गलोर; इसमें विशेषतया रसायन सम्बन्धी अन्वेषणों का प्रबन्ध है। 'इण्डियन ऐसोसियेशन फ़ार-कल्टीवेशन-आफ़-साइंस', कलकत्ता; इसमें भौतिक विज्ञान, रसायन और खानिज विज्ञान की विविध शाखाओं में अनुसंधान करने की अच्छी व्यवस्था है। 'बोस रिसर्च इंस्टीच्यूट', कलकत्ता; यह एक अनुसंधान-संस्था है। 'हारकोर्ट बटलर टेकनालाजिकल इंस्टीच्यूट', कानपूर; इसमें तीन मुख्य विभाग साधारण औद्योगिक रसायन, तेल, और शक्कर के हैं। 'साउथ इंडियन साइंस कांग्रेस', बङ्गलोर; इसका उद्देश्य भारत के वैज्ञानिकों को आपस में मिलने का अवसर देना और विज्ञान की उन्नति करना है। यह साफ़ जाहिर है कि भारतवर्ष में व्यावहारिक शिक्षा देने का प्रबन्ध अच्छा या काफी नहीं रहा है; इसलिए यहाँ औद्योगिक या कृषि सम्बन्धी खोज बहुत कम हुई है।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति और धार्मिक विश्वास—यहाँ लोगों में वैज्ञानिक मनोवृत्ति बहुत कम है, वे चिरकाल से जिन बातों को सुनते आ रहे हैं, उन्हें अपने विचार या तर्क की कसौटी पर कसे बिना ही मान लेते हैं। यही कारण है कि बहुत सी धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएँ इस समय अनावश्यक या हानिकारक होते हुए भी मानी जा रही हैं, मिसाल के तौर पर नदियों में हजारों मन फूल-पत्तों के अलावा पैसों आदि के रूप में बहुत-सा धन फेंका जाना; प्रति दिन तीर्थ-स्थानों में मनों दूध नदियों या तालाबों में चढ़ाया जाना; एक-एक स्थान पर हजारों रुपए के घी से हवन होना; देवी-देवताओं के नाम पर हजारों पशुओं को बलि चढ़ाया जाना, यात्रा व दान-पुन्य करने, हजामत करने, मकान

बनाने विवाह शादी करने आदि में दिन और मुहुर्त का बेहद विचार करना, आदि। आशा है, जैसे-जैसे वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रचार बढ़ेगा, ऐसी बातों में सुधार किया जायगा।

विज्ञान का दुरुपयोग; विलासिता और विध्वंस—विज्ञान ने आदमी को स्वास्थ्य, चिकित्सा और सुख के अच्छे उन्नत साधन दे दिए हैं, और दे रहा है। परन्तु कितने ही आदमी यन्त्रों के आश्रित रहकर आरामतलब बन जाते हैं, वे अपनी शारीरिक शक्तियों का ह्रास कर रहे हैं; थोड़ी-थोड़ी दूर जाने के लिए भी साइकिल और मोटर आदि का उपयोग करते हैं। छोटे-छोटे कामों में यन्त्रों का सहारा लेते हैं, बात-बात में औषधियों का प्रयोग करते हैं, और दुबले, कमजोर और रोगी बने रहते हैं। भारतवर्ष में, अभी वैज्ञानिक उन्नति विशेष न होने पर भी ये दोष काफी मात्रा में मिल रहे हैं।

आदमियों के अलावा राज्य भी विज्ञान का भयंकर दुरुपयोग कर रहे हैं। नए-नए घातक अस्त्र, यन्त्र या अन्य पदार्थ बनाए जा रहे हैं। अब युद्धों में तीर तलवार और बन्दूक के प्रयोग तो पुराने जमाने की बात हो गई; तोप, बम, और मशीनगनों से भी आगे कदम बढ़ाया जा चुका है। हवाई जहाजों, जहरीली गैसों का ही नहीं, हवाई गोले, (राकेट बम) और अणुबम का समय है। सन् १६४५ में सभ्यताभिमानी अमरीका ने अणुबम द्वारा जापान के दो नगरों को नष्ट कर के मानवता-प्रेमियों को बड़ी चिन्ता में डाल दिया है।

विशेष वक्तव्य—हमारे देखते-देखते दो महायुद्ध हो गए, जापान ने चीन पर, इटली ने अबीसोनिया पर, और हाल (जनवरी १६४६) में हालैंड ने हिन्देशिया पर घोर अत्याचार किया। आह! विज्ञान को साधन बनाकर कितने देशों की स्वाधीनता छीनी गई और उन्हें कितने कष्ट दिए गए। इन बुराइयों की रोकथाम तभी होगी, जब हम यह अनुभव करने लगेंगे कि मनुष्य-समाज एक बड़े परिवार की तरह है; जाति, रंग, सम्प्रदाय आदि का भेद-भाव रखना हमारी भूल है। दूसरों

का हित हमारा हित है; और दूसरों की हानि हमारी भी हानि ही है। विज्ञान ने समय और दूरी की बाधा बहुत-कुछ हटा दी है और संसार की एकता में बड़ी मदद पहुँचाई है। जरूरत है कि हमारे हृदय या दिलों की भी एकता हो। आदमियों में भाईचारे की भावना बढ़ाने पर ही विज्ञान हमारी उन्नति में सहायक होगा, और संसार के दूसरे देशों के साथ भारतवर्ष को भी वैज्ञानिक जागृति सफल होगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

राजनैतिक जागृति

किसी भी ऐसे पराधीन देश की उन्नति के मार्ग में, जिसकी संस्कृति आर्थिक व्यवस्था और समाज को विदेशी सत्ता से काफी क्षति पहुँच चुकी हो, स्वाधीनता की प्राप्ति निश्चय ही एक महत्व-पूर्ण मील के पत्थर के समान है।

—डा० पट्टाभि सीतारामैया

जागरण के इन क्षणों में,
भूल कर तू सो न जाना।
आज ये अन्याय का गढ़, ध्वंस होने जा रहा है।
औ पताका हाथ में ले, न्याय बढ़ता आ रहा है॥
शेष जो भी रह गया है, अन्त उसका भी निकट है।
तू मनुज है क्या तुझे डर, देव से भी तू विकट है॥
याद है क्या तू युगों से, युद्ध करता आ रहा है।
और जय हो या पराजय, किन्तु बढ़ता जा रहा है॥
लक्ष्य की उज्जवल दिशाएँ, छोड़ कर तू खो न जाना।
जागरण के इन क्षणों में, भूल कर तू सो न जाना॥

—अ० भिक्षु स्वामी

इस युग में राजनैतिक जागृति का विशेष स्थान है; इसके बिना देश की सामाजिक या आर्थिक समस्याएँ हल नहीं होतीं। राजनैतिक जागृति का मतलब कुछ लोगों का शासन-पद, नौकरियाँ या थोड़ी-बहुत राजनैतिक सुविधाएँ पाने का आन्दोलन नहीं है। किसी देश में राजनैतिक जागृति तब कही जाती है जब वहाँ जनता में अपने राजनैतिक अधिकार पाने की धुन हो, वह संगठित होकर यह माँग करे कि उसकी चुनी हुई सभा ही देश के लिए सब कानून बनाए, और उसे ही कर लगाने, राज्य की आमदनी खर्च करने और देश की रक्षा करने तथा दूसरे देशों से संधि करने का पूरा अधिकार हो। अपनी इस माँग के पूरा होने तक जनता बराबर आन्दोलन जारी रखे, और ज़रूरत होने पर बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार रहे। राजनैतिक जागृति का लक्ष्य स्वाधीनता होती है। भारतवर्ष इसे प्राप्त कर चुका है। इस अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि इसे प्राप्त करने के लिए क्रमशः क्या-क्या प्रयत्न किए गए हैं, और देश किन-किन अवस्थाओं में से होकर गुजरा है।

हमारी राजनैतिक जागृति का सूत्रपात—आधुनिक भारत के जन्मदाता राजा राममोहन राय ने अपने देशबन्धुओं के राजनैतिक कष्टों की ओर भी ध्यान दिया था। वे मुगल-सम्राट की ओर से राजदूत बन कर इंगलैंड गए तो उन्होंने ब्रिटिश पार्लिमेंट की कामन-सभा की कमेटी के सामने तीन विचार-पूर्ण विषय उपस्थित किए—भारत की राजस्व-व्यवस्था, न्याय-प्रबंध, और भारतवर्ष की भौतिक उन्नति। राजा साहब ने १८२३ के प्रेस आर्डिनेंस (समाचार पत्रों के दमन) का यहाँ के तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट में घोर विरोध किया, और इसमें सफल न होने पर इंगलैंड के बादशाह के नाम एक सार्वजनिक प्रार्थना-पत्र भेजा। सन् १८३५ में पत्रों को जो स्वाधीनता मिली, उसमें राजा साहब के प्रयत्नों का बड़ा भाग है। इस प्रकार राजा साहब हमारी राजनैतिक जागृति के भी प्रवर्तक रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति की अन्य बातों का प्रचार करते समय राजनैतिक पहलू की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपने ग्रन्थों और भाषणों से जनता में स्वराज्य की भावना भरी, और वैदिक स्वराज्य की ब्योरेवार व्याख्या की। उत्साही आर्यसमाजी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में ही आगे नहीं बढ़े, वे राजनैतिक पराधीनता की भी निन्दा और विरोध करने लगे। यहाँ तक कि सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं में 'विद्रोह' की गंध आने लगी और वे उनके संचालकों पर कड़ी निगाह रखने लगे।

सन् १८५७ का स्वाधीनता-युद्ध—इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ-साथ देशभक्ति और स्वाधीनता के भावों का क्रमशः उदय हो रहा था। ऐसे समय में ईस्ट इंडया कम्पनी ने अपने शासन और व्यापार में छल-कपट, कूटनीति और अत्याचार की बेढब मिलावट करके यहाँ के किसान, कारीगरों, और व्यापारियों में असन्तोष की मात्रा बढ़ाई। उसने खासकर सैनिकों में ईसाई मत का प्रचार करके जनता की धार्मिक भावना पर आघात किया, और राजाओं तथा नवाबों की रियासतें मनमाने बहानों से अपने कब्जे में कर डालीं। इन सब बातों से लोगों का वह दल उत्तरोत्तर बढ़ता गया, जो कम्पनी के शासन का अन्त कर देना चाहता था। आखिर, सन् १८५७ में उसने कम्पनी से लड़ाई ठान दी। भारतवर्ष के इस स्वाधीनता-युद्ध के लिए काफी तैयारी नहीं की गई थी, और यथेष्ट संगठन नहीं हो पाया था। फिर, कम्पनी ने अपनी चालबाजी और धोखे से यहाँ के कुछ घर-के-भेदी विभीषणों को बहका कर या लोभ में फंसाकर अपनी ओर मिला लिया। परिणाम-स्वरूप भारत असफल रहा।

अंगरेज विजेता थे, चाहे उन्होंने यह विजय कैसे घृणित उपायों से प्राप्त की हो। अपनी विजय के मद में उन्होंने इस घटना को 'विद्रोह' कह कर हमें दोषी ठहराया, और खूब दंड दिया। अगर वे हार गए होते तो बात दूसरी ही होती। उन्हें 'विद्रोही' ठहराया जाता, और यथेष्ट

दंड दिया जाता। वैसे भी निस्पक्ष दृष्टि से सन् १८५७ की घटना का दायित्व कम्पनी के उद्दंड, लोभी और धूर्त अधिकारियों पर है।

इस युद्ध सम्बन्धी ब्योरेवार बातों में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है; हमने इसके विषय में अपनी 'भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन' नाम की पुस्तक में विस्तार से लिखा है। यहाँ यही कहना है कि इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना का अंकुर विद्यमान है, और वह चाहे जब फल-फूल सकता है। अंगरेज इससे चौकन्ना हो गए, और उन्होंने आगे भारत में अपने पैर जमाए रखने के भले बुरे विविध उपायों को अमल में लाने में संकोच न किया।

शासन में परिवर्तन—सन् १८५७ की भारतीय भावनाओं को बहुत निर्दयता से कुचलते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने इस देश की शासनपद्धति में परिवर्तन किया। शासन-कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से लेकर महारानी विक्टोरिया को दिया गया। नवम्बर सन् १८५८ में उनकी ओर से एक घोषणा-पत्र पढ़कर सुनाया गया, जिसमें यह प्रतिज्ञा की गई कि किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं किया जायगा; सारी प्रजा के साथ एकसा व्यवहार किया जायगा; सरकारी पदों पर नियुक्ति करते समय जाति धर्म या वर्ग का भेद-भाव नहीं किया जायगा। इस प्रकार लोगों के हृदय में धधकती हुई आग पर पानी डालने का प्रयत्न किया गया।

आतंक और सशस्त्र क्रान्ति—सन् १८५७ के बाद अंगरेज सरकार ने भरसक ऐसा प्रयत्न किया कि फिर वैसी घटना होने की कोई सम्भावना ही न रहे। उस समय की विचार-धारा के अनुसार युद्ध राजाओं, नवाबों, सामन्तों और जागीरदारों के नीचे ही हो सकता था; इन्हें सरकार ने कार्यरूप में समाप्त कर डाला था। अब जो राजा आदि रहे थे, या नए बनाए गए थे, वे अपने जान-माल की रक्षा के लिए सर्वथा सरकार के आश्रित थे, और सरकार को खुश करने के लिए जनता से चाहे जैसा व्यवहार करने को तैयार थे। सर्वसाधारण यह समझने

लग गए थे कि भारत में अंगरेजी राज ईश्वरीय देन है, और हमें अब नई परिस्थिति के अनुकूल बनकर चलना चाहिए।

तथापि भारत माता 'वीर-विहीन' नहीं हो गई थी। यहाँ समय-समय पर कुछ देशभक्त अपनी जान पर खेलते हुए अंगरेजी शासन के प्रति विद्रोह की भावना का परिचय देते रहे। आतंकवादी क्रान्तिकारियों ने अपने साहस और त्याग से सरकार को खूब परेशान, और सर्वसाधारण को चकित किया। इन लोगों में अपने कार्य के प्रति कितनी निष्ठा और भक्ति थी, इसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि जब इन्हें अपना वक्तव्य देने का मौका मिला, प्रायः ये इसी सुर में बोले—

क्यों कर भला हो मुमकिन, तकलीफ न उठावें।
बच्चे सपूत जो हों, बीमार माँ की खातिर॥
सौ बार गर जनम हो, तो भी यही धरम हो।
मर जायँगे, मरेंगे, हिन्दोस्ताँ को खातिर॥

अनेक मौकों पर जब इन्हें फांसी की सजा मिली तो ये गीता या कुरान हाथ में लिए खुशी-खुशी फांसी के तख्ते की ओर बढ़े। दर्शकों को, और खासकर सरकारी अधिकारियों को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मरते समय ये बहुत खुश थे, यहाँ तक कि इनके शरीर का वजन बढ़ गया था।

इस विषय की ब्योरेवार बातों के लिए हमारी दूसरी पुस्तक 'भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन' देखिए। यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि इस तरह के कार्य की अपनी सीमाएँ होती हैं। विशाल भारत में इसे जनता का संगठित सहयोग नहीं मिला। कांग्रेस, खासकर गांधी-युग में इसे नियंत्रित करने का भरसक प्रयत्न करती रही, और उसे इसमें जल्दी सफलता न मिलने का एक मुख्य कारण यही है कि शासकों ने जनता के राजनैतिक तथा आर्थिक असन्तोष को दूर नहीं किया; और अगर कभी कुछ अच्छा काम किया भी तो इतनी देरी से और ऐसे ढंग से किया कि उसमें कुछ रस न रहा।

कांग्रेस की स्थापना—उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यहाँ राजनैतिक आन्दोलन, वैध रूप से होने लगा। कुछ स्थानीय और प्रान्तीय सभा-समितियों के बाद सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्र-सभा अर्थात् कांग्रेस का जन्म हुआ। इसकी स्थापना में योग देने वाली शक्तियों के उद्देश्य अलग-अलग थे। उदाहरण के लिए, भारतीय परिस्थिति के अच्छे अनुभवी ह्यूम साहब ने, जो कांग्रेस की स्थापना करनेवालों में से हैं, इसलिए इसमें सहयोग किया था कि देश-प्रेमी और शिक्षित भारतवासियों का असन्तोष उग्र रूप धारण न करे। उस समय के गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन तथा कुछ अन्य अधिकारियों का, सहानुभूति दिखाने का उद्देश्य यह था कि सरकार प्रजा के भावों को तथा उसके बलाबल को जान सके, और परिस्थिति के अनुसार उसकी गति-विधि निश्चित कर सके। कुछ आदमी धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिए ही कांग्रेस में सम्मिलित होना चाहते थे, वे इसे राजनैतिक संस्था बनाने के पक्ष में न थे; और पीछे जब यह संस्था राजनैतिक हो ही गई, तो वे इससे अलग हो गए।

पहले बीस वर्ष—शुरू में लोगों की यह आशा रही कि पार्लिमेंट का व्यवहार ईस्ट इंडिया कम्पनी की अपेक्षा, जो एक व्यापारिक संस्था थी, अच्छा रहेगा। इस धारणा का कारण महारानी विक्टोरिया की घोषणा भी थी, जिसमें कई उदार प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, और जिसे यहाँ बड़ा अधिकार-पत्र माना गया था। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर ऐसे कार्य किए कि यहाँ लोगों की आशा और विश्वास को गहरा धक्का पहुँचा। मिसाल के तौर पर भारतीय दंड-विधान में राजद्रोह वाली दफा १२४ ए० जोड़ी गई, प्रेस-कानून और हथियार-कानून बनाए गए। भारतवासियों को ऊंचे-ऊंचे सरकारी पदों और नौकरियों से वंचित रखा गया। कार्यकर्ताओं का विचार था कि अगर यहाँ के अधिकारियों की शिकायत इंगलैंड पहुँचाई जाय तो सुनवाई अवश्य होगी। इसलिए शुरू में कांग्रेस की नीति भारत-सरकार को विविध

सुधारों के लिए प्रार्थनापत्र या 'डेप्यूटेशन' भेजने को रही। तथापि बहुत-कुछ उसके आन्दोलन से सन् १८९२ ई० में म्युनिसपेलटियों, विश्वविद्यालयों आदि संस्थाओं को तथा जागीरदार आदि विशेष समूहों को व्यवस्थापक सभाओं के लिए मेम्बर भेजने का कुछ अधिकार दिया गया। लेकिन न तो व्यवस्थापक परिषदों में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने हुए प्रतिनिधि ही पहुँचने पाए, और न उन्हें कुछ महत्वपूर्ण अधिकार ही मिले।

मार्ले-मिंटो-सुधार—सन् १९०९ में मार्ले-मिन्टो सुधार किए गए। भारतमंत्री की इंगलैंड की सभा अर्थात् इण्डिया-कौंसिल में दो भारतीयों के रहने का नियम किया गया, परन्तु उनका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा न होकर शासकों के अधीन रखा गया। व्यवस्थापक परिषदों में ग़ैर-सरकारी मेम्बरों की संख्या बढ़ाई गई, लेकिन उनके चुनाव का अधिकार सरकारी अधिकारियों को ही रहा; और राष्ट्रीयता नष्ट करने वाले जातिगत या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की भी स्थापना हुई। इन सुधारों से कुछ आदमियों को थोड़ा सन्तोष हुआ; शीघ्र ही उनमें से भी बहुत सों का भ्रम दूर हो गया। भारतवासी जाग तो रहे ही थे, कि १९१४-१८ के योरपीय महायुद्ध ने उन्हें और भी सचेत कर दिया। मित्र-राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों के मुँह से 'छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता', और 'आत्म-निर्णय के सिद्धान्त' आदि की बातें सुनकर, तथा आयर्लैंड को स्वराज्य पाते देख कर, भारतवासी भी अपने जन्म-सिद्ध अधिकार—स्वराज्य—पाने का निश्चय करने लगे।

शासन में साम्प्रदायिकता—अंगरेजों ने अपना शासन दृढ़ करने के लिए भारतवासियों में, खासकर हिन्दू-मुसलमानों में, भेद-भाव बढ़ाया है। सन् १८५७ में उन्हें हिन्दू-मुसलमानों की एकता मालुम हुई, तब से उन्होंने इस ओर और भी ज्यादा ध्यान दिया। सन् १८५९ में बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफ़िंस्टन ने एक सरकारी पत्र में लिखा था कि "रोम के शासकों का सिद्धान्त था—फूट फैलाओ और शासन करो,

और, यही सिद्धान्त हमारा भी होना चाहिए।" कांग्रेस की शक्ति बढ़ना अंगरेजों को अच्छा नहीं लग रहा था। वे कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहते हुए मुसलमानों को उससे अलग रखने की कोशिश करते रहे। सन् १९०५ में बंगाल के दो टुकड़े करने का उद्देश्य यह भी था कि बंगाल के नए प्रान्त में मुसलमानों का हिन्दुओं से मेल कम रहे, और पूर्वी बंगाल और आसाम में मुसलमानों का बहुमत हो। सन् १९०६ में सरकारी अधिकारियों की प्रेरणा से, मुसलमानों का एक डेप्यूटेशन सर आगाखाँ के नेतृत्व में गवर्नर-जनरल लार्ड मिन्टो से मिला, और, उनके सामने मुसलमानों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में पृथक् निर्वाचन और सरकारी पदों के संरक्षण की माँग रखी। मार्ले-मिन्टो-सुधारों में मुसलमानों के लिए अलग चुनाव की व्यवस्था की गई। इस तरह शासन-कार्य में साम्प्रदायिकता का रोग घुसाया गया, जिसने धीरे-धीरे बढ़कर बहुत भयङ्कर रूप धारण किया।

मुस्लिम लीग—अधिकारियों की मेहरबानी या रियासतों से लाभ उठाने के लिए सन् १९०६ में मुसलमानों ने मुस्लिम लीग नाम की एक अलग संस्था बनाई। उसने बंगाल के दो टुकड़े किए जाने की सराहना की। सन् १९०९ के शासन-सुधारों में सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए अलग चुनाव का सिद्धान्त मान लिए जाने पर लीग ने साम्प्रदायिकता का प्रचार खूब खुलकर किया। क्रमशः कांग्रेस ने लीग से समझौता करना ज़रूरी समझा, जिससे ब्रिटिश सरकार के सामने देश की सम्मिलित माँग रखी जा सके। सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस और लीग दोनो से मंजूर होने पर शासन-सुधार की जो योजना बनी, उसे कांग्रेस-लीग-योजना कहते हैं। इसके अनुसार कांग्रेस ने भी साम्प्रदायिक निर्वाचन स्वीकार कर लिया।

पार्लिमेंट की घोषणा—कांग्रेस-लीग-योजना के अलावा देश में और भी कई सुधार-योजनाएँ तैयार हुईं, और स्वराज्य की माँग हुई। अन्त में भारत-मंत्री ने २० अगस्त १९१७ ई० को पार्लिमेंट

में इस आशय की घोषणा की :—"ब्रिटिश सरकार की नीति शासन के प्रत्येक भाग में अधिकाधिक भारतीयों को स्थान देने तथा क्रमशः स्वराज्य-संस्थाएँ बढ़ाने की है, जिससे भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का अङ्ग रहता हुआ धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन प्राप्त कर सके। ब्रिटिश सरकार तथा भारत-सरकार पर ही भारतीय जनता के कल्याण और उन्नति का उत्तरदायित्व है, इसलिए वे ही प्रत्येक उन्नति-क्रम का निश्चय करेंगी।" इस नीति में, अधिकारियों की, सुधार-कार्य में फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाने की भावना स्पष्ट थी।

रालेट एक्ट और सत्याग्रह—इस अवसर पर सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों के घोर-विरोध की कुछ परवाह न कर, एक दमनकारी कानून बना डाला, जो पीछे जनता में रालेट-एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे नेताओं और अधिकारियों में तीव्र मतभेद हो गया। देश भर में इस क़ानून के विरुद्ध आन्दोलन जारी हुआ। महात्मा गाँधी ने जनता को सत्याग्रह का रास्ता दिखाकर इसे व्यापक रूप प्रदान किया। रविवार के दिन घर-घर व्रत रखना, बाजार का सब काम बन्द रहना, हड़ताल होना, नंगे पाँव और नंगे सिर असंख्य जनता का शहर-शहर में, और अनेक कस्बों व गाँवों तक में, शोक-सूचक जलूस निकालना, रालेट एक्ट के विरोध में स्थान-स्थान पर भाषण होना—इन बातों से छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सब में साहस, स्वावलम्बन और त्याग की भावना बढ़ने लगी। हिन्दू मुसलमानों में भाईचारा हो चला।

यह आन्दोलन शान्तिमय था, तो भी अधिकारी इसे सहन न कर सके। उन्होंने इसे दबाने में खूब शक्ति लगाई। कई जगह निहत्थी जनता के लिए पुलिस के सोंटे अथवा बन्दूक भी काफ़ी न समझी जाकर मशीनगनों तक का व्यवहार किया गया। योरपीय महायुद्ध में रंगरूटों की खूब सहायता देनेवाले तथा अच्छे-अच्छे इनाम या पुरस्कारों की आशा रखनेवाले पंजाब पर तो और भी बेढब बीती। उसे मार्शल ला (फौज़ी कानून) और डायरशाही के भयङ्कर दृश्य देखने पड़े। वहाँ

कोड़े मारने, पेट के बल चलाने और गोलियों की वर्षा करने के ही नहीं, हवाई जहाजों की बमबाज़ी के ऐसे रोमाञ्चकारी कार्य हुए, जो स्वयं कितने ही ब्रिटिश नेताओं के मत से सर्वथा अ-ब्रिटिश हैं, और ब्रिटिश शासन के इतिहास में कलङ्क के टीके हैं।

राष्ट्रीय सप्ताह और रचनात्मक कार्य—ता० १३ अप्रेल १९१९ को अमृतसर में सरकारी दमन की वह क्रूर घटना हुई थी, जिसे आम बोलचाल में 'जलियाँवाला-बाग-कांड' कहा जाता है। इसकी याद में हर वर्ष ६ से १३ अप्रेल तक 'राष्ट्रीय सप्ताह' मनाया जाने लगा। इस सप्ताह में आगे लिखे रचनात्मक कामों की ओर खास ध्यान दिया जाता है—(१) साम्प्रदायिक एकता, (२) अस्पृश्यता-निवारण, (३) नशाखोरी हटाना, (४) खादी-प्रचार, (५) ग्रामोद्योग, (६) गाँवों की सफाई, (७) बुनियादी शिक्षा (८) प्रौढ़ शिक्षा, (९) स्त्रियों की उन्नति, (१०) स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा, (११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार, (१२) अपनी भाषा से प्रेम, (१३) आर्थिक समानता, और (१४) किसानों, मजदूरों और विद्यार्थियों का संगठन।

मांट-फोर्ड सुधार—सन् १९१९ के शासन-सुधारों को भारत-मंत्री मांटेग्यू और गवर्नर-जनरल चेम्सफोर्ड के नाम पर, संक्षेप में मांट-फोर्ड-सुधार कहते हैं। उनसे उत्तरदायी शासनपद्धति केवल नौ प्रान्तों में, वह भी थोड़े से विषयों में, आरम्भ की गई। केन्द्रीय शासन में उसका सूत्रपात नहीं किया गया; भारत-सरकार ब्रिटिश पार्लिमेंट के ही प्रति उत्तरदायी रही, भारतीय जनता के प्रति नहीं हुई। भारतीय व्यवस्थापक मंडल के मेम्बरों की संख्या बढ़ाई गई और उसकी दो सभाएँ बनादी गई—राजपरिषद् और भारतीय व्यवस्थापक सभा। प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों के लिए सदस्यों की संख्या, जनसंख्या के अनुसार निश्चित की गई। इन परिषदों में ७० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने लगे। मताधिकार ब्रिटिश भारत की चौबीस करोड़ जनता में से केवल पिछत्तर लाख को अर्थात् तीन फी सदी को दिया गया। कांग्रेस-लीग-

योजना की चर्चा पहले की गई है। उसकी दूसरी बातों की उपेक्षा करके, सरकार ने उसकी सबसे कमजोर कड़ी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपना लिया, और उसे इन सुधारों में शामिल करके व्यवस्थापक सभाओं में मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व तथा पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया। अस्तु, सन् १६१६ ई० की कांग्रेस ने निश्चय किया कि उसकी राय में शासन-सुधार का कानून अधूरा, असन्तोषप्रद और निराशाजनक है; वह चाहती है कि पार्लिमेन्ट भारत में शीघ्र उत्तरदायी शासन स्थापित करने का प्रबन्ध करे, कांग्रेस किसी तरह इन सुधारों से पूर्ण उत्तरदायी शासन प्राप्त करने की कोशिश करेगी।

इन सुधारों के बाद—पञ्जाब-हत्याकांड के सम्बन्ध में सरकार ने कोई सन्तोषजनक कार्रवाई नहीं की। उलटा, उसने कुछ अफसरों को इनाम तक दिया। ख़िलाफत के मामले में भी यहाँ बड़ा असन्तोष रहा। रूम (टर्की) का सुलतान भारतवर्ष के भी मुसलमानों का खलीफा या प्रधान धर्म-गुरू था, और, इंगलैंड आदि मित्र-राष्ट्रों ने योरपीय महायुद्ध में भारतीय मुसलमानों की मदद पाने पर भी, जीत के बाद, अपने स्वार्थ के लिए रूम के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस पर अनेक हिन्दू और मुसलमानों ने म० गांधी के आदेश के अनुसार असहयोग किया, अर्थात् सरकारी स्कूल, अदालतों, नौकरियों और कौंसिलों का बहिष्कार किया। सन् १६२० में कांग्रेस के उद्देश्य में से ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहने की बात निकाल दी गई। इस वर्ष नए सुधारों के अनुसार व्यवस्थापक सभाओं का पहला निर्वाचन हुआ। बहुत से योग्य आदमियों ने असहयोगी होने के कारण, उसमें भाग न लिया।

सन् १६२२ में महात्मा गांधी के कैद किए जाने पर, कुछ असहयोगियों ने स्वराज्य-दल बनाकर, अन्य बहिष्कारों में श्रद्धा रखते हुए भी, कौंसिलों में जाना और थोथे सुधारों को नष्ट करना उचित समझा। इन्होंने व्यवस्थापक सभाओं के १६२३ ई० के चुनावों में भाग लिया।

स्वराज्य-दल के कारण सन् १९२३ से १९२६ तक बंगाल और मध्य-प्रान्त में मंत्रियों का वेतन नामंजूर हुआ, या नाममात्र के लिए मंजूर हुआ, और सरकार की बारबार हार हुई। तो भी मंत्री अपने पद पर बने रहे। इससे शासन का लोकप्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न होना स्पष्ट हो गया।

साइमन-कमीशन—सन् १९१९ ई० के विधान में ऐसी व्यवस्था की गई थी कि दस वर्ष में एक कमीशन इस बात की जांच करे कि उस समय जो उत्तरदायी शासन प्रचलित हो, उसे कहाँ तक बढ़ाना, बदलना या घटाना ठीक है। यह कमीशन सन् १९२७ ई० में नियुक्त हुआ, और अपने सभापति के नाम से साइमन-कमीशन कहलाया। इसके सातों सदस्य अंगरेज़ थे, वे भी अनुदार विचार वाले। अतः यहाँ के विविध राजनैतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। कमीशन की रिपोर्ट सन् १९२९ में प्रकाशित हुई। पीछे सन् १९३०-३२ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों, और अंगरेजों की लन्दन में तीन बार गोलमेज-सभाएँ हुईं। इनमें से सिर्फ दूसरी में ही कांग्रेस ने भाग लिया। उसकी तरफ से महात्मा गांधी वहाँ गए थे। इन्होंने जान लिया कि सरकार का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है, और वह भारतीय जनता को कुछ असली अधिकार—स्वराज्य का सार—देने को तैयार नहीं है। ये निराश होकर लौट आए।

कम-से-कम माँग; औपनिवेशिक स्वराज्य-योजना—इस बीच में यहाँ के विविध दलों के नेताओं ने भारतवर्ष की कम-से-कम मांग भी प्रकाशित कर दी। सन् १९२८ में पं० मोतीलालजी नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई, इसकी रिपोर्ट 'नेहरू-कमेटी-रिपोर्ट' कहलाती है। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं:—

ब्रिटिश साम्राज्य में भारतवर्ष का वही दर्जा होगा, जो केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, और आयरिश-फ्री-स्टेट नाम के स्वराज्य-प्राप्त राष्ट्रों का है। भारतवर्ष में एक ऐसी पार्लिमेंट होगी,

जो शान्ति तथा शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में क़ानून बना सकेगी। इसके साथ ही यहाँ एक ऐसा शासक-मण्डल होगा जो भारतीय पार्लिमेंट के सामने ज़िम्मेवार ठहराया जा सकेगा। भारत का राष्ट्र 'भारतवर्ष का कामनवेल्थ' कहलायगा। भारतवर्ष को अपने सैनिक प्रबन्ध, सर्वोच्च न्याय, कर-निर्धारण और नियम-निर्माण आदि का पूर्ण अधिकार होगा। इक्कीस वर्ष या अधिक उम्र के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मताधिकार रहेगा। सारे देश की सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी होगी, जो उर्दू और नागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकेगी। अंगरेजी का उपयोग किया जा सकेगा। प्रान्तीय सरकार की वही भाषा होगी, जो उस प्रान्त की प्रधान भाषा हो, पर हिन्दुस्तानी और अङ्गरेज़ी का उपयोग हो सकेगा।

स्वाधीनता का प्रस्ताव, और प्रतिज्ञा—ब्रिटिश राजी-नीतिज्ञों ने इस योजना पर ध्यान न दिया। निर्धारित समय तक इन्तजार करने के बाद, लाहौर में कांग्रेस ने ३१ दिसम्बर १६२६ को स्वाधीनता-प्रस्ताव पास किया। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहने की बात निकाल दी गई। तब से हर वर्ष २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस मनाया जाने लगा। इस शुभ दिन स्वाधीनता प्राप्ति की प्रतिज्ञा दोहराई जाती थी, उस ध्येय के उपायों का विचार किया जाता था, जिससे स्वाधीनता-आन्दोलन ढीला न होने पाए। इस प्रतिज्ञा का रूप समय-समय पर बदलता रहा है।

[भारतवर्ष के स्वतंत्र होने के बाद २६ जनवरी का दिन शहीदों की याद में मनाया जाता है। इसे 'स्मृति दिवस' कहा जाता है। २७ जन-वरी से २ फरवरी तक का सप्ताह 'सर्वोदय सप्ताह' होता है।]

सन् १६३० में नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह शुरू किया गया। आन्दोलन धीरे-धीरे बढ़ता गया। सरकार ने भी नए-नए आर्डिनेन्स या फरमान निकालकर ख़ूब ज़ोर का दमन किया। बहुत से माई के लालों ने लाठी-वर्षा या जेल की तकलीफें सहीं, और कितने ही तो गोलियों के शिकार होकर मातृभूमि के काम आए।

नागरिकों के मूल अधिकार आदि—मार्च सन् १६३१ ई० में कांग्रेस और सरकार में क्षणिक संधि होने पर, कांग्रेस का अधिवेशन करांची में खूब धूमधाम से हुआ। कांग्रेस ने राजनैतिक के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता को भी आवश्यक बताते हुए, नागरिकों के निम्न-लिखित अधिकार स्वीकार किए—

१—नागरिकों के मूल अधिकार :—(क) सभा समितियां करने की स्वतन्त्रता; (ख) भाषण और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, (ग) सार्वजनिक शान्ति, और ऐसे धर्म को मानने और उसके अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता, जो सदाचार के विरुद्ध न हो, (घ) अल्पसंख्यक समुदायों की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा, (च) स्त्री-पुरुष का भेद न मानते हुए सब नागरिकों के अधिकारों और उत्तरदायित्व की समानता, (छ) धर्म या जाति के कारण किसी व्यक्ति के लिए कोई सरकारी नौकरी, पद, अधिकार या सम्मान पाने अथवा कोई रोज़गार या पेशा करने में रुकावट न होना, (ज) सार्वजनिक सड़कों, कुओं, तथा जनता के लिए बनाए हुए अन्य स्थानों के उपयोग का सब नागरिकों को समान अधि-कार, (झ) निर्धारित नियमों के अनुसार, हथियार काम में लाने का अधिकार, (ट) क़ानून में बताई हुई अवस्था के सिवाय, किसी की स्वतन्त्रता का हरण न किया जाना, किसी के घर-जायदाद में प्रवेश न करना, और न उसका छीना या ज़ब्त किया जाना, (ठ) धार्मिक विषयों में राज्य की तटस्थता, (ड) हरेक बालिग आदमी को मताधिकार, (ढ) अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा।

२—मज़दूरों की व्यवस्था:—(क) कल कारख़ानों में काम करनेवालों के निर्वाह के लिए यथेष्ट वेतन, (ख) काम करने के परिमित घण्टे, (ग) काम करने का स्वास्थ्यप्रद प्रबन्ध, (ग) बुढ़ापे, बीमारी या बेकारी के आर्थिक परिणामों से रक्षा, (च) दासता या उससे मिलती-जुलती दशा से श्रमजीवियों का छुटकारा, (छ) स्त्री-मज़दूरों की रक्षा, विशेषतया प्रसूति के समय छुट्टी का यथेष्ट प्रबन्ध, (ज) स्कूलों में पढ़ने की उम्र वाले बच्चों

के, खानों में भरती होने का निषेध, (झ) अपने हितों की रक्षा के लिए मज़दूरों का संघ बनाने का अधिकार, और झगड़ों को पंचायतों द्वारा निपटाने की समुचित व्यवस्था।

३—राजकोय कर और व्यय :—(क) जिन खेतों से लाभ न होता हो, उनके किसानों से दिए जानेवाले लगान और किराए में काफ़ी छूट, और आवश्यक समय तक लगान की माफी, (ख) कृषि से होनेवाली निर्धारित परिमाण से ऊपर की आय पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (ग) विरासत की जायदाद पर क्रमशः बढ़ता हुआ कर, (घ) सैनिक व्यय में, वर्तमान परिमाण के कम-से-कम आधे की कमी, (च) मुल्की विभागों के वेतन और व्यय में बहुत कमी; विशेष दशा में नियुक्त विशेषज्ञों आदि को छोड़कर किसी सरकारी नौकर को प्रायः पाँच सौ रुपए से अधिक मासिक वेतन न दिया जाना, (च) देशी नमक पर कर न होना।

४—आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाः—(क) विदेशी कपड़े और सूत को देश में न आने देकर स्वदेशी कपड़े को प्रोत्साहन, (ख) शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं की रुकावट, (ग) मुद्रा और व्यापार-नीति का इस प्रकार नियन्त्रण कि स्वदेशी उद्योग-धंधों को सहायता मिले और जनता का हित हो, (घ) मुख्य उद्योगों और खनिज साधनों पर राज्य का नियन्त्रण, (च) सूदखोरी का नियन्त्रण।

नागरिक अधिकारों के इस ब्योरे का उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष में रहनेवाले जुदा-जुदा जाति, धर्म या श्रेणी के आदमियों को इस विषय की जानकारी हो जाय, और विदेशियों को भी हमारे विचारों का ज्ञान हो जाय।

साम्प्रदायिक निर्णय; पूना का समझौता—गोलमेज़-सभाओं की बात पहिले कही गई है। दूसरी गोलमेज-सभा में शासन सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार करने के लिए कुछ कमेटियाँ बनाई गई थीं। उन कमेटियों में से अल्पसंख्यक-कमेटी किसी ऐसे निर्णय

पर न पहुँच सकी, जो सब को स्वीकार हो। अन्त में कुछ 'प्रतिनिधियों' के कहने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने सब पक्षों के एकमत होने तक के लिए अपना निर्णय दिया; उसके अनुसार भारतीय मतदाता कई अलग-अलग श्रेणियों में बाँट दिए गए। इससे साम्प्रदायिक मुसलमानों को छोड़, और सब असन्तुष्ट रहे। इस निर्णय ने 'दलित' जातियों को हिन्दुओं से अलग निर्वाचनाधिकार दे दिया। म० गांधी जेल में थे, हिन्दुओं में फूट डालने का यह प्रयत्न उनसे न देखा जा सका। उन्होंने १८ अगस्त १९३२ को घोषणा करदी कि जब तक इस निर्णय में सुधार न होगा, तब तक मैं आमरण उपवास करूँगा। महात्माजी के अनशन से देश भर में हलचल मच गई। सरकार ने नेताओं को उनसे मिलने की अनुमति देदी। अन्त में निश्चय हुआ कि व्यवस्थापक सभाओं में, कुछ शर्तों के साथ दलितों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे जायँ, और वे पृथक् निर्वाचन की बात छोड़ दें। पूना के इस समझौते को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया।

इसके बाद मुसलमानों में भी राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठी, और उन्होंने भी महात्मा जी से (जेल में) मिलकर साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करना चाहा, पर सरकार ने ऐसा न होने दिया। लखनऊ और इलाहाबाद में कान्फ्रेन्स करके समझौते का प्रयत्न किया गया, उसमें कुछ स्वार्थी तथा कट्टर व्यक्तियों के कारण सफलता न मिली।

कांग्रेस, और असेम्बली का चुनाव—यहाँ की व्यवस्थापक सभाओं में कुछ विशेष तत्व न होने से काँग्रेसने कई वर्ष उनसे असहयोग किया। पर सन् १९३४ ई० में 'असेम्बली' के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया गया। इसका एक कारण यह था कि पिछली भारतीय व्यवस्थापक सभा दमनकारी तथा व्यापार-घातक क़ानून बनाने में सहायक हुई थी, और सरकार को यह कहने का अवसर मिला था कि भारतीय 'प्रतिनिधि' उसकी नीति का समर्थन करते हैं। इसके अलावा चुनाव में भाग लेने के मुख्य दो कारण ये थे :—(१) शासन-

विधान के सरकारी-मसविदे (श्वेत पत्र) को अस्वीकार करना, और (२) विधान-सभा (कान्स्टीच्यूएंट ऐसेम्बली) का आयोजन । कांग्रेस इस चुनाव में खूब सफल रही ।

देशी राज्यों की जागृति—देशी राज्यों के निवासियों पर, 'ब्रिटिश भारत' में रहनेवाले अपने पड़ोसियों के शासन-सुधार और आज़ादी के आन्दोलन का असर पड़े बिना न रहा । सत्याग्रह और विदेशी वहिष्कार आदि में उन्होंने भरसक भाग लिया । धीरे-धीरे उनमें अधिकाधिक जागृति होती गई । कई रियासतों में अत्याचारों को हटाने के विविध आन्दोलन हुए, परन्तु अच्छे संगठन वाली, एक अखिल भारतवर्षीय संस्था की आवश्यकता थी । अन्त में 'देशी राज्य लोक परिषद्' की स्थापना हुई, जिसका प्रथम अधिवेशन सन् १६२७ ई० में हुआ । इसका उद्देश्य देशी नरेशों को सुधार करने के लिए प्रेरित करना, तथा समय-समय पर संसार के सामने प्रजा की माँग उपस्थित करना था ।

लोक-परिषद् की ओर से सन् १६२७ ई० को मदरास-कांग्रेस में प्रतिनिधि-मण्डल गया, और उसके प्रयत्न से कांग्रेस ने देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की माँग स्वीकार की । नेहरू-रिपोर्ट में इस बात का आश्वासन दिया गया कि भावी भारत-सरकार देशी राज्यों की जनता के अधिकारों की पूरी तौर से रक्षा करेगी । देशी राज्यों का ब्रिटिश सरकार से क्या सम्बन्ध रहे, तथा 'ब्रिटिश-भारत' से आर्थिक सम्बन्ध कैसा हो, इस विषय का विचार करने के लिए सरकार ने दिसम्बर १६२७ ई० में 'इण्डियन स्टेट्स कमेटी' नियुक्त की, जिसे उसके सभापति के नाम पर बटलर-कमेटी कहते हैं । उसने देशी राज्यों में भारत-सरकार के हस्तक्षेप-अधिकार को और भी दृढ़ किए जाने की सलाह दी । यह बात राजाओं को पसन्द नहीं आई । पर जनता के विचार से भी कमेटी की रिपोर्ट बहुत असन्तोषजनक रही । लोक-परिषद् ने अपना प्रतिनिधि-मण्डल इङ्गलैण्ड भेज कर उसका विरोध किया । परिषद् ने

कई रियासतों में होनेवाले अत्याचारों की स्वतन्त्र रूप से जांच की, और पुस्तकों, समाचारपत्रों तथा भाषणों द्वारा अपना प्रचार-कार्य किया।

सन् १९३१ ई० में परिषद् ने सर्वसाधारण के सामने देशी राज्यों की ये कम-से-कम माँगें उपस्थित कीं :—१—देशी राज्यों के लोगों को संघ-राज्य की नागरिकता, और उनके मूल अधिकार नए शासन-विधान में दर्ज हों। २—देशी राज्यों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए शासन-विधान में सङ्घ-राज्य के न्यायालय की व्यवस्था हो। ३—केन्द्रीय (भारतीय) व्यवस्थापक सभाओं में देशी राज्यों के लोगों को प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, और इसके लिए उन्हें भी 'ब्रिटिश भारत' में प्रचलित निर्वाचन-पद्धति और मताधिकार मिले। ४—भारतीय राज्यों के न्यायालयों का सम्बन्ध सङ्घ-राज्य के सुप्रीम कोर्ट से हो।

देशी-राज्य और कांग्रेस — कांग्रेस का कार्य-क्षेत्र आरम्भ में 'ब्रिटिश-भारत' ही था। देशी राज्यों के निवासियों के, उत्तरदायित्वपूर्ण-शासन स्थापित कराने के उचित और शान्तिमय प्रयत्न से कांग्रेस पूरी सहानुभूति रखती रही और वह उसका समर्थन भी करती रही। परन्तु शायद कुछ व्यावहारिक कारणों से उसने उनके मामलों में विशेष हस्त-क्षेप न करने की ही नीति रखी। पीछे जाकर उसने समय-समय पर देशी राजाओं से आग्रह किया कि वेअपने राज्यों में प्रतिनिधि-संस्थाओं के आधार पर उत्तरदायित्व-पूर्ण विधान चलावें, और तुरन्त ऐसी घोषणाएँ निकालें या ऐसे क़ानून पास करें, जिनमें सभा-समिति बनाने, भाषण करने और लेख लिखने की स्वतन्त्रता, तथा जान-माल की रक्षा, और इसी तरह के दूसरे मूल नागरिक अधिकारों के सुरक्षित रहने की बात हो।

कांग्रेस की यह नीति महात्मा गाँधी के कहने से ग्रहण की गई थी। धीरे-धीरे देशी राज्यों की जनता अपने अधिकार पाने के लिए आगे बढ़ती गई, पर कितने ही देशी नरेश इस जाग्रति को दबाने के लिए उस पर अत्याचार करने लगे। इस पर महात्मा जी ने सन् १९३८

ई० के अन्त में देशी नरेशों को चेतावनी देते हुए, 'हरिजन' में साफ़-साफ़ कह दिया कि 'या तो वे अपना अस्तित्व बिलकुल मिटा देने के लिए तैयार हो जायँ या, अपनी प्रजा को पूर्ण उत्तरदायी शासन के अधिकार दें और स्वयं उसके संरक्षक होकर रहें तथा अपने परिश्रम के लिए पुरस्कार लें।' कांग्रेस भारतवर्ष की स्वाधीनता की लड़ाई चला रही थी; वह इस देश की एक, तिहाई जनता के प्रति उदासीन नहीं रह सकती थी।

सन् १९३५ का शासन-विधान—पार्लिमेंट ने सन् १९३५ ई० के भारतीय शासन-विधान के अनुसार भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकार का स्वरूप 'संघ शासन' रखा, जिसमें 'ब्रिटिश भारत' और देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों। परन्तु उसका जो स्वरूप निर्धारित किया था, वह नितान्त असन्तोषप्रद रहा। संघ के एक भाग ('ब्रिटिश भारत') का शासन कुछ-कुछ उत्तरदायी था, और दूसरे भाग (देशी राज्यों) में स्वेच्छाचारी। विधान का यह अंश अमल में आने से पहले ही स्थगित हो गया, और, सिर्फ प्रान्तों सम्बन्धी हिस्सा ही अमल में आया।

इस विधान की विशेषता बताई गई थी—प्रान्तीय स्वराज्य। पर 'स्वराज्य' केवल गवर्नरों के प्रान्तों को था, चीफ़-कमिश्नरों के प्रांतों को इससे वंचित रखा गया था। और, गवर्नरी प्रान्तों में भी स्वराज्य कैसा था! गवर्नर प्रायः सर्वेसर्वा थे, मंत्रिमण्डल के क़ानूनी अधिकार बहुत कम थे, व्यवस्थापक मण्डलों का कार्यक्षेत्र तथा अधिकार भी बहुत सीमित थे। छः प्रान्तों में प्रतिक्रियावादी दूसरी सभाओं की स्थापना करदी गई थी। आर्थिक विषयों में व्यवस्थापक मण्डल प्रायः गवर्नर की कृपा पर छोड़ दिए गए थे। व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव के लिए मताधिकार पहले से बढ़ा दिया गया था, परन्तु उसे साम्प्रदायिकता के रंग से रंगकर सब गुड़-गोबर कर दिया गया था।

कांग्रेस का पद-ग्रहण—इस विधान को रद्द करने के लिए

कांग्रेस ने नई व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव में भाग लिया। छः प्रांतों (बम्बई; मदरास; संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, और मध्यप्रांत) में, कांग्रेस-दल का बहुमत रहा। इस लिए इन प्रान्तों के गवर्नरों ने कांग्रेस-दल के नेताओं को अपने-अपने प्रान्त में मंत्रिमंडल बनाने के लिए बुलाया। कांग्रेस ने मंत्री-पद ग्रहण करना उसी दशा में स्वीकार किया, जब गवर्नर-जनरल ने यह आश्वासन दे दिया कि आमतौर से शासन-कार्य मंत्रिमण्डल करेंगे और गवर्नर उनकी सलाह मानेंगे, उसमें हस्तक्षेप न करेंगे। इस प्रकार कांग्रेस ने ऊपर बताए हुए छः प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बनाए। पीछे पश्चिमोत्तर-सीमाप्रांत और आसाम में भी कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल हो जाने से, गवर्नरों के ग्यारह प्रांतों में से आठ में कांग्रेस-शासन हो गया।

कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से जनता के नागरिक अधिकार बढ़े, पुलिस आदि की मनमानी कार्रवाइयों में कमी हुई। लोगों के कष्ट दूर हुए ग्राम-सुधार आदि का काम हुआ, और कई अच्छे-अच्छे कानून बनाए गए। कांग्रेस की शक्ति और सदस्यों की संख्या बढ़ी; हाँ, कुछ आदमी अपने स्वार्थ या प्रसिद्धि के लिए भी सदस्य बने। जिन प्रान्तों में गैर-कांग्रसी मंत्रिमंडल थे, उनमें भी कुछ लोकोपयोगी कार्य किए गए।

कांग्रेस-सरकारों का इस्तीफा—कांग्रेस-सरकारों ने विधान के अनुसार जहाँ तक हो सकता था, जनता की सेवा की। वह वैधानिक संकट को जैसे-तैसे टालती रही; पर आखिर, संकट आ ही पहुँचा। सन् १९३९ में योरप में (दूसरा) महायुद्ध छिड़ा। इंगलैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने पर यहाँ की प्रान्तीय सरकारों का मत लिए बिना ही भारतवर्ष को भी उससे लड़नेवाला घोषित कर दिया; उसने यहाँ की केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों को प्रान्तों में कई प्रकार के काम करने का अधिकार देकर प्रान्तीय मंत्रिमंडलों की शक्ति कम करदी। कांग्रेसी सरकारों को यह बहुत खटका। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से युद्ध का

उद्देश्य पूछा, और यह माँग रखी कि युद्ध समाप्त होने पर भारतवासियों को अपनी विधान-सभा बनाकर उसके द्वारा अपनी शासनपद्धति निश्चित करने का अधिकार रहे। ब्रिटिश सरकार का संतोषजनक जवाब न मिलने पर, कांग्रेसी सरकारों ने त्यागपत्र दे दिया। इस पर, उनके अधिकार गवर्नरों ने अपने हाथ में ले लिए, दूसरी सरकारें बनाने का प्रयत्न नहीं किया।

लीग की राजनीति—सन् १९१३ में लीग के मुख्य उद्देश्य ये थे:—मुसलमानों में ब्रिटिश साम्राज्य को वफादारी के ख्यालों का प्रचार, मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की रक्षा, तथा इंगलैंड की अधीनता में स्वराज्य प्राप्त करना। समय-समय पर इसमें परिवर्तन हुआ। सन् १९२१-२२ में खिलाफत-आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन का भाग बना लिए जाने से यह समय हिन्दू-मुस्लिम एकता का रहा। सन् १९२८ में कांग्रेस और लीग दोनों ने साइमन-कमीशन का बहिष्कार किया। सन् १९२७ में जब सर मोहम्मद शफी आदि पृथक् निर्वाचन के पक्ष में थे तो श्री० जिन्ना और अली भाइयों ने कुछ शर्तों के साथ सम्मिलित चुनाव का पक्ष लिया था। लेकिन सन् १९२९ में लीग का अधिवेशन श्री० जिन्ना के सभापतित्व में हुआ, उसमें पृथक् चुनाव और लीग की १४ शर्तों की घोषणा की गई। सन् १९३० में सर मोहम्मद इकबाल ने लीग के सभापति की हैसियत से दिए हुए भाषण में 'पकिस्तान' की योजना रखी।

सन् १९३७ में लीग का लक्ष्य भारतवर्ष का पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना रहा। लीग प्रजातंत्री राज्य स्थापित करना चाहती थी, और पूर्ण स्वाधीन भारत के विधान में मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के लिए संरक्षण चाहती थी। उसने अपने आपको कांग्रेस के मुकाबले की संस्था बनाने की कोशिश की। इस वर्ष जो नए चुनाव हुए, उनमें बंगाल और पंजाब की व्यवस्थापक सभाओं में मुसलमानों का बहुमत हो गया। लेकिन बंगाल में मुसलिम लीग को सब मुसलिम सीटों को सिर्फ

एक-चौथाई मिलीं; और, पंजाब में यूनियन-पार्टी का ही बहुमत रहा; यहाँ के ८४ मुसलिम सदस्यों में से सिर्फ़ १ सदस्य मुस्लिम लीग का चुना गया। हाँ, इन प्रान्तों के प्रधान मंत्री अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिए पीछे लीग में शामिल हो गए। सिंध में लीग का एक भी सदस्य नहीं चुना गया। यही हाल पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त का हुआ, जो सबसे अधिक मुसलिम प्रान्त है। मुसलिम लीग की ऐसी हार देखकर श्री० जिन्ना ने कांग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने का विचार किया, इसे कांग्रेस ने स्वीकार न किया। अब लीग ने यह झूठा प्रचार करना शुरू किया कि कांग्रेसी सरकार वाले प्रान्तों में मुसलमानों पर बहुत ज्यादतियाँ हुई हैं। जब सन् १९३९ में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दिए तो लीग ने 'मुक्ति दिवस' मनाया।

पाकिस्तान—अब से श्री० जिन्ना प्रजातन्त्र शासन का विरोध करने लग गए। वे यह मानने लग गए कि भारतवर्ष में दो राष्ट्र हैं—हिन्दू राष्ट्र और मुसलिम राष्ट्र; इनके लिए अलग-अलग राज्य कायम किए जाने चाहिएँ। मुसलमानों के लिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान, पंजाब और सिंध में, तथा बंगाल और आसाम में मुस्लिम राज्य हो; इसे 'पाकिस्तान' कहा जाय और शेष भारत में (मुस्लिम राज्यों को छोड़कर) हिन्दू राज्य हो। सन् १९४० में लाहौर के अधिवेशन में लीग का मुख्य ध्येय पाकिस्तान ठहराया गया।

क्रिप्स-योजना और पाकिस्तान—सन् १९४२ में, जब कि योरपीय महायुद्ध खूब जोर से चल रहा था, और इस बात की बड़ी आशंका थी कि कहीं जापान भारतवर्ष पर भी हमला न कर बैठे, ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल की ओर से सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष के भावी शासन की एक योजना लेकर यहाँ आए। उसे साधारण बोलचाल में 'क्रिप्स योजना' कहते हैं। उसमें भारतवर्ष को युद्ध के बाद कुछ शर्तों के साथ औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात कही गई थी। पर यह साफ जाहिर था कि कम-से-कम युद्ध-काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को

कोई खास अधिकार देना नहीं चाहती। कांग्रेस ने उस योजना को नामंजूर कर दिया। [हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग आदि कोई भी मुख्य दल उस योजना से संतुष्ट न हुआ, यद्यपि उनके असन्तोष के कारण पृथक् पृथक् थे।]

उस योजना में प्रान्तों को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार दिया गया था; परन्तु 'मुसलिम प्रांत' का, जिक्र नहीं किया गया था। फिर, श्री० जिन्ना की माँग यह थी कि ब्रिटिश सरकार लड़ाई के बाद पाकिस्तान कायम करने की गारंटी अभी से देदे, और उसके सम्बन्ध में जनमत सिर्फ मुसलमानों का ही लिया जाय। यह माँग पूरी न होने से, मुस्लिम लीग ने भी उस योजना को स्वीकार न किया।

'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव—ब्रिटिश सरकार ने बार-बार यही कहा कि भारतवासियों की कोई ऐसी शासन-योजना नहीं है, जिसे सब आदमी स्वीकार करते हों; यहाँ देशी राज्यों, मुसलमान आदि अल्प-संख्यकों, और हरिजनों आदि की समस्याएँ हैं; इसलिए इन्हें पूरा शासन-अधिकार नहीं दिया जा सकता। पर जाननेवाले अच्छी तरह जानते थे कि ये समस्याएँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद और कूटनीति की देन थीं। और जब तक भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता मौजूद है, वह अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिक या प्रतिक्रियावादी नेताओं और संस्थाओं की पीठ ठोकती रहती है, और उनकी अनुचित माँगों और दुराग्रह या हठ के कारण कोई उचित और सर्वसम्मत समझौता नहीं हो सकता। इसका खूब अनुभव करके कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ को 'भारत छोड़ो'-प्रस्ताव पास किया। उसने निश्चय किया कि अब अंगरेज भारतवर्ष को छोड़ दें, यहाँ शासक के रूप में न रहें, और भारतवर्ष को अपनी रक्षा स्वयं करने दें; हाँ, चीन आदि की सहायता के लिए युद्ध के समय ब्रिटिश या अमरीकन सेनाएँ यहाँ रह सकती हैं। सरकार को ऐसी बात कैसे अच्छी लगती! उसने अगले ही दिन कांग्रेस के अनेक बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाए ही कैद या नजरबन्द कर

दिया ।

करो या मरो—इस पर जनता में वह महान क्रान्ति हुई, जिसने सन् १६४२ को हमारी राजनैतिक जागृति में बहुत महत्वपूर्ण वर्ष बना दिया। लोगो के मन में 'करो या मरो' की भावना थी। जिसके दिल में देश के लिए ज़रा भी दर्द था, वह कुछ कर गुजरना चाहता था। आदमी बेचैन थे, उन्होंने जगह-जगह तोड़-फोड़ आदि के ऐसे कार्य किए, जिनसे रेल, तार डाक आदि के सरकारी कामों में बाधा पड़े। अनेक हिन्सात्मक घटनाएँ भी हुईं। इस जन-क्रान्ति का वर्णन हमारी दूसरी पुस्तक में है।

सरकार ने जनता के असंतोष को दूर न करके घोर दमन से काम लिया। उसने इन घटनाओं के लिए कांग्रेस को दोषी ठहराया, और एक पुस्तक प्रकाशित की—"अगस्त १६४२ के दङ्गों के लिए कांग्रेस की जिम्मेवारी"। इसका खुलासा उत्तर देते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा कि 'मैंने या किसी कांग्रेसी नेता ने हिन्सा का कभी विचार नहीं किया, मैंने कभी जन-आन्दोलन आरम्भ नहीं किया; मेरा विचार सरकार से समझौते की बात चलाने का था। उपद्रव गिरफ़ारियों के बाद हुए, उनका कारण गिरफ़ारियाँ ही थीं। अगर सरकार का मत इसके विपरीत है तो वह इस बात का एक निष्पक्ष अदालत से विचार कराए।' सरकार, इन बातों पर कोई ध्यान न देकर, अपना ही राग अलापती रही। उसने अमरीका आदि में कांग्रेस को बदनाम करने में तो लाखों रुपया खर्च किया, लेकिन भारतीय जनता का असन्तोष दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार की स्थापना न की।

आजाद-हिन्द-संगठन—जिस समय भारत भूमि में अनेक वीर-वीरांगनाएँ 'करो या मरो' की दीक्षा के अनुसार जूझ रहे थे, उस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया में हमारे अनेक भाई बहिनें पूर्व की ओर से भारत पर आक्रमण करके उसे अंगरेजों की अधीनता से मुक्त करने के लिए जी-जान से लगे हुए थे। उनका नेतृत्व करनेवाले थे 'नेताजी'

श्री सुभाषचन्द्र बोस। आपने किस प्रकार सन् १६४२ में जेल से मुक्ति पाई, और फिर ब्रिटिश नौकरशाही की आँखों में धूल डाल कर आप यहाँ से काबुल और काबुल से जर्मनी गए और फिर किस प्रकार योरपीय देशों के युद्ध का अवलोकन करने पर सन् १६४३ में जापान होते हुए सिंगापुर आए और यहाँ आजाद-हिन्द-फौज और आज़ाद-हिन्द-सरकार का संगठन किया—यह कहानी से अधिक मनोरञ्जक और आश्चर्यजनक है। पर हमें तो विस्तार से बच कर खास बात यह कहनी है कि श्री नेता जी की अस्थायी सरकार का जर्मनी, जापान आदि ६ स्वतन्त्र राष्ट्रों ने अस्तित्व स्वीकार किया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीस लाख भारतीयों की भक्ति इसे प्राप्त थी। अक्तूबर १६४३ में इस सरकार ने इंगलैंड और अमरीका के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। जुलाई १६४४ को इसका प्रधान कार्यालय बर्मा में आ गया। मलाया, सिङ्गापूर, अन्डमन-निकोबार, थाईलैंड आदि प्रदेशों का शासन रंगून से ही होने लगा। अजाद हिन्द सेना मार्च १६४४ में बर्मा-भारत की सीमा को पार करके मणिपुर रियासत की राजधानी इम्फाल तक चढ़ आई। यह सेना आसाम को अंगरेजों की अधीनता से मुक्त करके अपना 'दिल्ली चलो' का कार्यक्रम पूरा करनेवाली थी। परन्तु इसी समय वर्षा ऋतु के कारण रसद पहुँचने की व्यवस्था न होने तथा हवाई सहायता न मिल सकने के कारण इसे पीछे हटाना पड़ा, और विजय और सफलता की आशा पूरी होते-होते रह गई।

स्थूल दृष्टि से असफल रहने पर भी आजाद-हिन्द-सरकार के 'जय-हिन्द, और 'चलो दिल्ली' के नारों ने भारतवर्ष में सैनिक क्रान्ति की अभूतपूर्व भावना का प्रसार किया। सरकार ने इसके वीर पदाधिकारियों पर मुकदमा चलाकर इस भावना को और भी प्रज्ज्वलित होने का अवसर दिया।

वेवल-योजना की असफलता—जो राजनैतिक गतिरोध सन् १६३६ से चल रहा था, उसे दूर करने के लिए गवर्नर-जनरल लार्ड

वेवल ने ब्रिटिश अधिकारियों की सलाह से जून १६४५ में भारतीय नेताओं के सामने एक कामचलाऊ योजना रखी। इस पर विचार करने के लिए शिमले में भारतीय नेताओं की कान्फ्रेंस बुलाई गई। राष्ट्रीय दृष्टि से इस योजना में कई दोष होने पर भी कांग्रेस ने जनता के भोजन-वस्त्र आदि सम्बन्धी विविध सङ्कटों को दूर करने तथा भारतवर्ष की आजादी का रास्ता साफ करने के विचार से इसे सफल करने की कोशिश की। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह पैदा हुई कि श्री जिन्ना ने यह दावा किया कि नई केन्द्रीय सरकार के लिए सभी मुसलिम सदस्यों का चुनाव केवल मुसलिम लीग ही कर सकती है। अगर कांग्रेस यह मान लेती तो वह स्वयं अपने राष्ट्रीय संस्था होने के दावे का खंडन करती। उधर पाँच करोड़ से अधिक मोमिन, शिया, अहरार, खाकसार और यूनियन दल वाले ऐसे थे, जो मुस्लिम लीग से बाहर थे। फिर, मुसलिम बहुमतों वाले पाँचों प्रान्तों में से एक में भी मुस्लिम लीग की स्वावलम्बी सरकार नहीं थी। पंजाब में यूनियन पार्टी की सरकार थी, बंगाल में लीग का मंत्रिमंडल योरपियन दल के सहारे था, वह गिर गया था; सिंध और आसाम के मंत्रिमंडल कांग्रेस की सहायता से ही बने हुए थे। वेवल-योजना पर विचार होते समय मौलाना अब्दुलकलाम आजाद कांग्रेस के सभापति थे, और उन्होंने इसी हैसियत से कांग्रेस की ओर से, नेताओं की कान्फ्रेंस में भाग लिया था। इन सब बातों के होते हुए भी मि० जिन्ना ने अपना ऊपर बताया हुआ दावा कायम रखा। इस पर लार्ड वेवल ने कान्फ्रेन्स असफल होने की घोषणा कर दी। यह समझा जाता है कि इसमें ब्रिटिश सरकार का हाथ था।

जनता का संकट—अस्तु, राष्ट्रीय सरकार नहीं बन पाई। इससे यहाँ युद्ध-काल में लोगों को बेहद कष्ट रहा। घूस (रिश्वत), चोर-बाजार और मुनाफाखोरी का खूब जोर रहा। खाने-पहनने की चीजों पर सरकार का कड़ा कन्ट्रोल या नियन्त्रण जरूर रहा, लेकिन साधारण हैसियत के आदमियों को ये चीजें मिलने में बहुत कठिनाई हुई और

बहुत से आदमियों की मामूली ज़रूरतें भी पूरी न हो पाईं। अकाल, मँहगाई और बीमारी ने जनता को भारी संकट में डाल दिया। अकेले बंगाल प्रान्त में, सरकारी रिपोर्टों के अनुसार भी दस लाख आदमी अपने प्राण गवाँ बैठे; गैर-सरकारी अनुमान तो कहीं अधिक था। दूसरे प्रान्तों में भी लोगों को बहुत मुसीबतें रहीं। कपड़े न मिलने के कारण कितनी ही आत्म-हत्याएँ तक हुईं। पुनर्निर्माण के लिए सरकारी और गैर-सरकारी कई योजनाएँ बनाई गईं। लेकिन राष्ट्रीय-सरकार के न होने की हालत में, वे सब बेकार रहीं। उसके बिना रचनात्मक कार्य में भी बहुत-सी बाधाएँ आती रहीं।

नौसैनिक संघर्ष—११ फरवरी १९४६ को बम्बई में 'तलवार' नाम के जहाज के कमाँडर किंग नामक गोरे ने कुछ भारतीय सैनिकों को अपशब्द कहे। उसके विचार से यह साधारण बात थी। उसे पता नहीं था कि भारतीय जनता में जो जागृति हो रही है, उसका सेना के अभेद्य दुर्ग में भी प्रभाव पड़ा है। अस्तु, उसे अपने कुकृत्य पर कोई अफसोस नहीं था, और अन्य अधिकारियों ने भी काले आदमियों की शिकायतों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। १८ फरवरी को भारतीय नौसैनिकों को जो नाश्ता दिया गया वह बहुत खराब था। इस पर ११०० सैनिकों ने हड़ताल कर दी और अन्यान्य बातों में यह भी माँग की—(१) गोरे-काले का भेद-भाव हटाकर दोनों प्रकार के सैनिकों को समान वेतन दिया जाय, (२) सब राजनैतिक कैदी, जिनमें आज़ाद-हिन्द फौज के कैदी भी हैं, फौरन रिहा कर दिए जायँ।

हड़ताल बम्बई तक ही सीमित न रही। इसकी लहर कराची, कोचीन, विजिगापट्टम आदि स्थानों में भी पहुँची। गोरी फौज और भारतीय नौ-सैनिकों में लड़ाई हुई। भारतीय नौ सैनिकों को जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। लाखों मजदूरों ने हड़ताल की। आखिर, श्री० सरदार पटेल और अन्य भारतीय नेताओं ने बीच में पड़कर नौ सैनिकों को शान्त किया। इस घटना ने अंगरेजों की आँखें खोल दीं। भारत में हुकूमत

करते हुए उन्हें यह पहली ही बार अनुभव करना पड़ा कि फौज भी हमारे हाथ से जा रही है, जो अब तक हमारे साम्राज्य की अन्तिम आधार रही है।

मंत्रिमिशन-योजना—दूसरे योरपीय महायुद्ध के बाद एक प्रकार से प्रजातंत्र की जीत हुई। इंग्लैंड में मजदूर-दल की विजय हुई। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, मज़दूर-दल की पर-राष्ट्र नीति और भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप इंग्लैंड को अपनी भारत सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार की ओर से इंगलैंड के तीन मंत्री यहाँ आए और भारतीय नेताओं से विचार-विनिमय करने के बाद उन्होंने १६ मई १९४६ को भावी विधान बनाने के लिए एक विधान-सभा के संगटन की योजना बनाई। उसने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान सम्बन्धी माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करके भी प्रान्तों को तीन समूहों में बाँटने पर जोर दिया, जिनमें से पूर्वी और पश्चिमी समूहों में ऐसे प्रान्तों का समावेश किया गया, जिनमें कुल मिलाकर मुस्लिम बहुमत था। विधान-सभा के 'ब्रिटिश-भारत' के सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा हुआ, जो साम्प्रदायिक मताधिकार पर बनी हुई थीं। इन सदस्यों की संख्या २९२ निश्चित की गई; दस लाख पीछे एक प्रतिनिधि के हिसाब से। देशी राज्यों के सदस्यों की संख्या ९३ निश्चित की गई।

इस योजना में कई दोष थे—प्रान्तों का समूहीकरण, विधान-सभा के सदस्यों का निर्वाचन साम्प्रदायिक होना, और देशी राज्यों की ओर से लिए जानेवाले सदस्यों के सार्वजनिक निर्वाचन की व्यवस्था न होना। परन्तु, अन्त में पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से, कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विधान-सभा में प्रान्तों की ओर से लिए जानेवाले सदस्यों का चुनाव किया गया। मुस्लिम लीग ने भी चुनावों में भाग लिया, पर पीछे उसने विधान सभा से असहयोग किया। विधान सभा की कार्रवाई ९ दिसम्बर १९४६ से आरम्भ हुई।

मार्च १९४७ में यह निश्चय किया गया कि रियासतों के कम-से-कम आधे प्रतिनिधि रियासतों की व्यवस्थापक सभाओं द्वारा, और उनके अभाव में इसी प्रकार की बनाई हुई दूसरी संस्थाओं के चुने हुए सदस्यों द्वारा, निर्वाचित हों। ब्रिटिश-भारत की तरह देशी राज्यों की प्रति दस लाख की आबादी का, एक प्रतिनिधि भेजने का, अधिकार माना गया। साढ़े सात लाख या इस से ऊपर की आबादी को भी एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

अस्थायी-सरकार—मंत्रिमिशन ने कांग्रेस और लीग से एक सम्मिलित सरकार बनाने को कहा, जो नया विधान बनने तक काम करे। इन दोनो संस्थाओं द्वारा वैसी सरकार न बनाए जाने पर मिशन ने १६ जून १९४६ को १४ सदस्यों की अन्तर्कालीन सरकार बनाने की योजना उपस्थित की—६ कांग्रेस (५ सवर्ण हिन्दू और १ हरिजन), ५ लीगी, १ अकाली, १ पारसी और १ ईसाई। इस योजना में मुसलमानों के पांचों प्रतिनिधि लीग-सभापति श्री जिन्ना की मर्जी के रखे गए। और, जब कांग्रेस ने यह अधिकार माँगा कि वह अपने हिस्से के प्रतिनिधियों में चाहे जिसे नामजद करे—और खासकर एक राष्ट्रीय मुसलिम को भी स्थान दे—तो उसकी बात अस्वीकार की गई। इस प्रकार यह योजना मानों कांग्रेस से एक हिन्दू संस्था का सा व्यवहार करने और उसके राष्ट्रीय स्वरूप को नष्ट करने की चाल थी। कांग्रेस इसमें न फँसी। यद्यपि मुसलिम लीग इस योजना को स्वीकार कर चुकी थी, कांग्रेस के अस्वीकार करने पर इसे अमल में लाने का विचार स्थगित कर दिया गया।

अगस्त १९४६ के मध्य में वायसराय ने राष्ट्रपति जवाहरलाल नेहरू को अन्तर्कालीन सरकार का संगठन करने के लिए आमंत्रित किया। और, २ सितम्बर को प्रथम बार केन्द्रीय प्रबन्धकारिणी की जगह १२ सदस्यों का केन्द्रीय मंत्रिमंडल या राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया गया। इसमें मुस्लिम लीग शामिल नहीं हुई थी।

प्रत्यक्ष संघर्ष—वास्तव में श्री० जिन्ना नहीं चाहते थे कि कांग्रेस राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करे। और, जब उनकी इच्छा के विपरीत कार्य हुआ तो उन्होंने विरोध-रूप में १६ अगस्त को 'प्रत्यक्ष-संघर्ष-दिवस' मनवाया। बंगाल में खासकर कलकत्ता और नोआखाली में मुसलमान गुंडों और बदमाशों ने लोगों पर अमानुषिक अत्याचार किया। करोड़ों रुपयों का माल जला डाला। इसकी प्रतिक्रिया बिहार में हुई, यहाँ हिन्दू मुसलमानों से बदला लेने पर उतर आए। पर म० गांधी के अनशन की सूचना, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार के ज़ोरदार कदम उठाने और पुलिस तथा फौज की कार्रवाई से स्थिति तुरन्त सम्हाल ली गई।

विधान-योजना में परिवर्तन—अस्थायी सरकार बनने के कुछ समय बाद मुस्लिम लीग ने उसमें शामिल होना स्वीकार कर लिया। इस पर अस्थायी सरकार के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया और पाँच नए सदस्य मिलाकर अस्थायी सरकार के १४ सदस्य हो गए। लीग केन्द्रीय सरकार में शामिल होकर शासन-कार्य में अड़ंगा लगाती रही, और पाकिस्तान के लिए आन्दोलन करती रही। आखिर, भारतवर्ष के खंडित होने की आशंका देख कर कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि किसी प्रदेश पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं लादा जा सकता। २० फरवरी ४७ की सरकारी घोषणा में निश्चयात्मक रूप से यह तो कहा गया कि भारत से विदेशी शासन का अन्त होगा और जून १६४८ तक शासन-सत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपी जायगी, परन्तु भारतवर्ष के खंडित या अखंडित रहने का विचार अस्पष्ट ही रहा। आखिर, लार्ड माउँटबेटन ने विविध नेताओं से मिलकर तथा ब्रिटिश मंत्रिमंडल की स्वीकृति से ३ जून ४७ को विधान सम्बन्धी नई योजना प्रकट की; इसे 'माउंटबेटन योजना' कहा जाता है।

दो औपनिवेशिक राज्य; भारतीय संघ और पाकिस्तान—इस योजना के अनुसार शासन की दृष्टि से भारतवर्ष के दो

भाग किए गए:—भारतीय संघ और पाकिस्तान। पाकिस्तान के पूर्वी भाग में पूर्वी बंगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग रखा गया। पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में पश्चिमी पंजाब, सिन्ध, तथा बलोचिस्तान रखे गए और निश्चय किया गया कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की जनता का मत लिया जाय, कि वह भारतीय संघ में शामिल होना चाहती है या पाकिस्तान में। बात यह थी कि इस प्रान्त में कई वर्ष से कांग्रेस-दल का भारी बहुमत रहा था, वहाँ अधिकांश जनता पाकिस्तान-विरोधी थी। उसने अब अपने स्वतंत्र पठानिस्तान की माँग की। लेकिन प्रस्तुत योजना में उसकी गुञ्जायश नहीं थी। इसलिए पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त वालों ने निर्वाचन का बहिष्कार किया। नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान के समर्थक लीगियों की विजय हुई, और सीमाप्रान्त वालों को कानून की दृष्टि से पाकिस्तान में मिलना पड़ा।

अस्तु, अब मंत्रिमिशन की विधान सम्बन्धी योजना बदल गई। १५ अगस्त १९४७ से भारतवर्ष अखंड न रहकर उसके दो भाग हो गए, जिन्हें स्वराज्य प्राप्त उपनिवेश ('डोमिनियन') का पद प्राप्त है। विधान-सभा पहिले एक थी और वह देहली में काम कर रही थी, अब पाकिस्तानी क्षेत्र के सदस्यों की एक अलग विधान-सभा बन गई, जो कराची में पाकिस्तान के लिए विधान बनाने लगी।

देशी राज्य और भारतीय संघ—पाकिस्तान की स्थापना के फल-स्वरूप भारतवर्ष खंडित हो ही गया था। इधर ब्रिटिश सरकार ने इस देश को छोड़ते समय रियासतों को 'स्वतंत्र राज्य' घोषित करके, तथा उन्हें अपना भविष्य स्वयं निर्धारित करने की छूट देकर यह सम्भावना उपस्थित करदी थी कि देश और भी सैकड़ों ऐसे टुकड़ो में बँट जाय जिन्हें पीछे मिला कर एक करना सदियों का, नहीं तो दशाब्दियों का, काम हो। परन्तु भारत के कुशल मंत्रिमंडल और खास कर रियासती विभाग के सुयोग्य अध्यक्ष सरदार पटेल ने इस विषय में आशातीत

चमत्कार कर दिखाया। एक-एक करके सब देशी राज्य, जो भारतीय संघ की सीमा में थे, इससे सम्पद्ध होते गए। एक हैदराबाद में रजाकारों का नेता कासिम रिजवी निजाम को अपने हाथ की कठपुतली बना कर इस राज्य को भारतीय संघ में मिलने से रोकता रहा। साथ ही रजाकारों के अत्याचार भी बढ़ते रहे। आखिर, भारत-सरकार ने अपनी सेनाएँ भेज कर ५ दिन में रजाकारों को वश में कर लिया। हैदराबाद भी भारतीय संघ में मिल गया। अभी वहाँ सैनिक शासन है, पर अस्थायी रूप से।

देशी राज्यों में लोकतंत्र—देशी राज्यों में लोकतंत्री शासन स्थापित होने में यह बाधा थी कि उनकी संख्या दस-बीस नहीं, लगभग छः सौ थी; अधिकांश मामूली गाँव सरीखे थे; बहुतसों के क्षेत्रफल, जनसंख्या और आय, अच्छे शासन के संचालन की दृष्टि से, काफी नहीं थे। इसलिए उन्हें प्रान्तों में मिलाने, या उनके संघ आदि बनाने का विचार किया गया। सरदार पटेल ने राजाओं और रियासती कार्यकर्त्ताओं से विचार-विनिमय करके इस विषय में जल्दी ही अच्छा समझौता कर दिखाया। इस समय (मार्च १९४९) तक ५३८ रियासतें विलीन हो चुकी हैं—२१३ रियासतें प्रान्तों में विलीन हो गई हैं, २३ का शासन-भार केन्द्रीय सरकार द्वारा लिया जा चुका है, और ३०२ को पांच रियासती संघों में संयुक्त कर दिया गया है। अब थोड़ी सी रियासतों का ही विचार करना रह गया है। रियासती संघों में जनसत्तात्मक शासन चालू हो रहा है।

जिस तेजी से यह परिवर्तन अहिन्सात्मक ढंग से, बिना जोर-जबरदस्ती के हो रहा है, उससे आशा है अगले छः माह के भीतर रियासतों तथा प्रान्तों की शासन व्यवस्था में कोई भेद न रहेगा। देश भर में कुल मिलाकर लगभग डेढ़ दर्जन इकाइयाँ रह जायँगी, जो जनता के अधिकारों और कर्तव्यों, मंत्रिमंडलों के संगठन, शासन के स्तर आदि की दृष्टि से बिल्कुल समान होंगी। सब के अध्यक्षों अधिकार भी प्रायः समान होंगे, केवल कुछ इकाइयों के अध्यक्ष गवर्नर कहलाएँगे, और

कुछ के, राजप्रमुख या महाराजा आदि। भारतीय जागृति इस दिशा में खूब फलदायक हो रही है।

विशेष वक्तव्य—राजनैतिक जागृति का मुख्य ध्येय स्वाधीनता प्राप्त करना होता है। अपने लगातार प्रयत्नों से भारत ने उसे प्राप्त कर लिया है। हाँ, विभाजित हो जाने से हमारे सामने कई नई समस्याएँ पैदा हो गई हैं। अस्तु, भारतीय संघ अब अंगरेजों की पराधीनता से मुक्त है। पिछली गणना के अनुसार इस राज्य की जनसंख्या ३२ करोड़ है, और अगली मनुष्य-गणना (सन् १९५१) तक ३५ करोड़ होने का अनुमान है। इतनी जनता का अपना भविष्य स्वयं बनाने के लिए स्वतंत्र होना कुछ साधारण बात नहीं है। राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने से अन्य प्रकार की जागृति या स्वाधीनता का मार्ग सुगम हो जाता है। हमें उसकी प्राप्ति में जुट जाना चाहिए।

खेद है कि राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद हम कुछ विचलित हो गए हैं; सेवा की जगह अब हमारी निगाह फल या पुरस्कार की ओर रहने लगी है! हम सत्ता को हथियाने में या अपने कोठी-कुठले और तिजोरी भरने में लग गए हैं। हमारा नैतिक स्तर गिर गया है। आशा है, इन बातों का शीघ्र अन्त होगा। हमें अपने सुन्दर भविष्य में पूरा विश्वास है, और हमें अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हर तरह का त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

बारहवाँ अध्याय

उपसंहार

होते हम किस तरह अगर कुछ काम न होता।
मिटे हुओं की तरह धरा पर नाम न होता॥
किसी काम ही के लिए जीवित हैं संसार में।
कितने ही तो बह गए कुटिल काल की धार में॥

—स्नेही

प्राक्कथन — स्वाधीनता-प्राप्ति (अगस्त १९४७) के बाद से जागृति की लहर बड़ी तेज़ी से आ रही है। परमात्मा ने चाहा, हमारे देश-बन्धुओं ने अपनी कोशिश जारी रखी तो थोड़े ही समय में सभी क्षेत्रों में हमारा काफी विकास हो जायगा। पैंतीस करोड़ आदमियों का अच्छा सङ्गठन निस्संदेह संसार को चकित करनेवाला होगा। भारतीय जनता के उत्थान का अर्थ है, मानव समाज के सातवें हिस्से की उन्नति। इससे जाहिर है कि भारतीय जागृति का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है।

प्राचीन मिश्र, रोम, यूनान, बेबिलन, फ़ारिस आदि की सभ्यताओं का, समय की चपेटों से, लोप हो गया। यद्यपि कुछ स्वार्थी विदेशियों तथा अदूरदर्शी स्वदेशियों ने भारतवर्ष को विध्वंस करने में कोई कसर उठा नहीं रखी थी, फिर भी यह बूढ़ा भारत हिमालय की तरह दृढ़ता-पूर्वक टिका हुआ है; इसका अवश्य कोई विशेष कारण होगा। निदान, हमें निश्चय रखना चाहिए कि हमारा अभ्युदय होगा, और भारतवर्ष माता वसुन्धरा के लिए कल्याणकारी सन्देश देगा।

हमारा कर्तव्य—सौभाग्य से भारतवर्ष में सभी प्रकार की जागृति हो रही है। हाँ, गत डेढ़ सौ वर्ष में कभी धार्मिक या सामाजिक जागृति की प्रधानता रही, कभी शिक्षा या साहित्य सम्बन्धी कार्य की।

पिछले वर्षों में खासकर राजनैतिक आन्दोलन ने सबका ध्यान खींच रखा था उसमें सफलता मिल जाने से वह शक्ति अब दूसरे कामों में लग सकती है। विचारशील पाठकों को जिस दिशा में अपनी शक्ति का अधिक उपयोग होता मालूम हो, उसमें काफ़ी सहयोग प्रदान करना चाहिए, और दूसरे प्रकार की जागृति का महत्व समझते हुए उसमें सहायता देनेवालों से सहानुभूति रखनी चाहिए। आओ! हम अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इस महान यज्ञ में अपनी भेंट चढ़ाएँ। स्वर्ग में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, दादाभाई नौरोज़ी, लो० तिलक, महमना मालवीय जी और म० गांधी आदि, तथा इस पृथ्वी पर जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबाभावे, मौलाना अब्दुल-कलाम आज़ाद आदि हमारे कार्यों को उत्सुकता से देख रहे हैं; हम सुयोग्य माता की सुयोग्य सन्तान साबित हों।

भारतीय जागृति के क्या-क्या सुपरिणाम होंगे, इस विषय का विचार भारत-हित की दृष्टि से भी हो सकता है, और संसार-हित की दृष्टि से भी। पहले भारत-हित की दृष्टि से विचार करते हैं।

जागृत भारत—जागृति के अभी तक के प्रभाव से कुछ भारतीय सज्जनों को अपने विविध अधिकार पाने की दृढ़ इच्छा हो चली है, उन्हें अपने महत्वपूर्ण कर्तव्य के पालन का भी ध्यान रहता है। परन्तु अभी अधिकांश समाज को रोटी कपड़े की चिन्ता में ही अपना सर्व समय बिताना होता है, वह जैसे-तैसे अपने दिन पूरे कर रहा है। उसकी जीवन-लीला में अभिमान करने योग्य कुछ बात नहीं। जब यहाँ जागृति का का कार्य यथेष्ट हो जायगा तो यह देश, इसे सहन न करेगा। आपस के वादविवाद और लड़ाई-झगड़े स्वप्न हो जायँगे। सब को यथायोग्य अधिकार मिले रहेंगे, और हरेक का, अपना कर्तव्य पालने की ओर पूरा-पूरा ध्यान होगा। हम दूसरे के सुख को अपना सुख समझ कर उसको बढ़ाने के लिए जी-जान से उद्योग करेंगे, तथा दूसरों के दुःखों को अपना दुःख मान कर उनके हटाने में कोई कोशिश उठा न रखेंगे।

अछूत जातियों का प्रश्न ही उठ जायगा; हिन्दू-मुसलमानों का भेद भाव अन्तर्ध्यान हो जायगा। सबकी ऊंची तथा पूरी शिक्षा की, और अच्छे स्वास्थ्य और आजीविका की, व्यवस्था होगी। शहरी और देहाती, अमीर, ग़रीब, मालिक, नौकर, तथा व्यापारी और किसान सब अपने आपको एक ही राष्ट्रीय परिवार के अंग समझेंगे; आपस में खूब प्रेम से रहते हुए सचमुच सुखी जीवन व्यतीत करेंगे। उस समय प्रत्येक दर्शक को यह स्वीकार करना होगा, कि इस भूमि पर यदि कहीं स्वर्ग है तो भारत है, और भारत ही है।

भारतीय जागृति से संसार-हित—निस्संदेह जागृत भारत स्वर्ग समान होगा, परन्तु भारत के स्वर्ग होने के लिए संसार के दूसरे देशों को नरक बनना नहीं होगा। चहुं ओर नरककुंड की दुर्गंध से घिरा हुआ कोई देश स्वर्गीय जीवन का आनन्द नहीं ले सकता। अगर ऐसा सम्भव भी हो तो हमें यह पसन्द नहीं। हम जीना चाहते हैं तो दूसरों को मार कर नहीं। हमारी यह प्रबल इच्छा है कि हमारे जीवन से दूसरों को जीवन मिले, हमारा सुख दूसरों के लिए भी हितकर हो।

जागृत भारत मनुष्य-मात्र को आधुनिक सभ्यता के सच्चे स्वरूप से अच्छी तरह परिचित कराएगा। वर्तमान सभ्यता के खूबसूरत फूल के अन्दर शहद की मक्खी का डंक है। इसकी जिस भौतिक उन्नति का उद्देश्य मनुष्य की सेवा करना था, वह अब समाज को रौंद रही है। देश के मुट्ठी भर आदमियों को लखपती और करोड़पती बनाकर यह असंख्य जनता को अन्न-वस्त्र की साधारण आवश्यकताओं के लिए भी तरसाती रहती है। छल कपट और स्वार्थ इसके मूल मंत्र हैं; व्यापार और उद्योग इसके साधन हैं। 'निर्बल होना महापाप है', अथवा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', इस सभ्यता की शिक्षा है। जेलखाने, पागलखाने, आत्महत्या इसके चमत्कार हैं, और व्यभिचार, मद्यपान, माँस-भक्षण, अविश्वास, ईर्ष्या या डाह और चिन्ता इसके द्वारा सींचे

जानेवाले पेड़ हैं। 'शांति चाहते हो तो अस्त्र-शस्त्रों से लड़ने को तैयार रहो', यह इसका नवीन आविष्कार है। क्या-क्या गिनावें, इसके विज्ञान की ऐसी ही महिमा है।

मानव समाज को सन्देश — जागृत भारत इस सभ्यता की आलोचना करके मानव समाज को बतलाएगा कि प्रकृति पर विजय पाना मनुष्य के लिए केवल उसी समय हितकर हो सकता है जबकि वह पहले अपने ऊपर विजय प्राप्त करले; अपनी इन्द्रियों को दमन करना सीख कर सांसारिक विषय-वासनाओं की गुलामी से मुक्ति पाले। मनुष्यों की असली भलाई दूसरों की भलाई में है, दूसरों को मार कर जीने की इच्छा रखनेवालों का जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। 'जीओ और जीने दो' की नीति से ही जगत का काम चल सकता है। दूसरो को कुली और मज़दूर बनाकर मालिक बननेवालों की, अन्त में खैर नहीं। योरप अमरीका की गोरी जातियाँ उतने अधिकारों से ज्यादा की अधिकारी नहीं, जितनों की एशिया या अफ्रीका की पीली या काली जातियाँ अधिकारी हैं। रंग, देश तथा जातीयता के भेद-भावों से मनुष्य जाति जुदा-जुदा हिस्सों में बटी होने पर भी, सब एक ही परम पिता की सन्तान हैं। जो जितना अधिक योग्य है, अधिक बड़ा है, उतना ही अधिक वह दूसरों की भलाई का उत्तरदाई है। सब मनुष्य इस प्रकार अपने अधिकारों का उपयोग करेंगे, तब इस संसार का विलक्षण कायाकल्प होगा।

सिर्फ़ पाँच-पाँच दस-दस सदियों की छोटी-छोटी उम्र वाले नटखट राष्ट्रो! ज़रा सोचो! आडम्बर और विलासिता पूर्ण जीवन में तुम अनेक प्रकार की मानसिक व्यथाओं का अनुभव कर रहे हो। भारत-माता सादगी, सेवा और त्याग के आदर्श से तुम्हारे सब कष्टों का अन्त कर सकती है। उससे शिक्षा लो, तभी तुम्हारा कल्याण है।

संसार के इतिहास में भारतीय जागृति का स्थान— संसार में प्रत्येक क्रान्ति का एक विशेष उद्देश्य होता है; वह मानव समाज

के सामने कुछ विशेष आदर्श या विचार रखती है। उदाहरण के लिए फ्रांस की राजक्रांति का श्रेय स्वतन्त्रता, समता और भाईचारा था। उसने समय पाकर अपनी बागडोर नेपोलियन को सौंप दी, और वह महापुरुष महत्वाकांक्षी बनकर अपने आपको अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने में लग गया। त्याग और सेवा उसका आदर्श न रहा। इसलिए वह राजक्रान्ति बहुत खून बहा कर भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से आगे न बढ़ सकी।

हमारे देखते-देखते आयर्लैण्ड, चीन, जापान, अफगानिस्तान, टर्की और मिश्र आदि बहुत से देशों में क्रान्तियाँ हुईं और देश-काल के अनुसार वे फलदायक भी हुईं। सबसे अधिक प्रभावपूर्ण क्रान्ति रूस की हुई है। इसने पूँजीवाद का बल-पूर्वक नाश करके जनसाधारण को राजसत्ता प्रदान की, तथा अमीर, गरीब, जमींदार, किसान आदि के भेद-भाव को मिटाकर फ्रांस की राजक्रान्ति के दूसरे उद्देश्य 'समता' या समाजवाद की घोषणा की। यह होने पर भी संसार में भाईचारे या भ्रातृत्व की दुन्दुभी बजाना अभी शेष है। इसके लिए रक्तपात या बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं। ज़रूरत है, त्याग और सेवा-भाव की, अहिंसा और सत्याग्रह की, तथा प्रेम-भाव से दुर्भावनाओं को मिटाने की। ये बातें भारतीय जागृति के आन्दोलन में पाई जाती हैं।

हमें विश्वास है जिस आदर्श को प्राप्त करने के लिए संसार कई सदियों से इन्तजार कर रहा है, और जिसे फ्रांस और रूस की बड़ी-बड़ी खूनी क्रान्तियों ने भी प्रदान नहीं किया, वह कार्य बूढ़े और बुजुर्ग भारत की अहिंसक और परोपकारी सभ्यता द्वारा ही पूरा होनेवाला है। अस्तु, प्रभु की कृपा हो! भारत की सर्वाङ्गीण जागृति हो, चारों दिशाओं में सुख शान्ति हो! वन्दे मातरम्।

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (दसवाँ संस्करण)	...	३)
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा सं०)	...	॥=)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (नवाँ सं०)	...	२)
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा सं०)	...	२)
भारतीय सहकारिता आन्दोलन (तीसरा सं०)	...	३॥)
भारतीय जागृति (पाँचवाँ सं०)	...	२॥)
निर्वाचन पद्धति (पाँचवाँ सं०)	...	१)
नागरिक कहानियाँ	...	॥=)
श्रद्धाञ्जलि	...	॥।=)
राजनीति शब्दावली (तीसरा सं०)	...	२॥)
नागरिक शिक्षा (छठा सं०)	...	१॥)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन (चौथा सं०)	...	१।)
अर्थशास्त्र शब्दावली (तीसरा सं०)	...	१॥।)
कौटल्य के आर्थिक विचार (तीसरा सं०)	...	२)
अपराध चिकित्सा	...	१॥)
भारतीय अर्थशास्त्र (पाँचवाँ सं०)	...	५)
साम्राज्य और उनका पतन (दूसरा सं०)	...	२॥)
मातृवन्दना (चौथा सं०)	...	॥)
देशी राज्य शासन (दूसरा सं०)	...	३॥)
विश्व-संघ की ओर	...	२॥)
भावी नागरिकों से (दूसरा सं०)	...	१॥)
इंगलैंड का शासन और औद्योगित क्रान्ति	...	१)
मनुष्य जाति की प्रगति	...	३॥)
गाँव की बात (दूसरा सं०)	...	॥)
नागरिक शास्त्र (दूसरा सं०)	...	२।)
देशी राज्यों की जन-जागृति	...	५)
व्यवसाय का आदर्श	...	१)

भगवानदास केला; भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग